कपिल देवहूति

भागवती कथा

खण्ड

★

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर

(झूसी) प्रयाग

●

पंचम संस्करण] कार्तिक शुक्ल [illegible] [मूल्य [illegible])
१००० प्रति] नवम्बर १९७२

मुद्रक-बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

विषय-सूची

अग्रिम-सृष्टि का वर्णन

[१४६]

मही प्रतिष्ठामध्यस्य सौते स्वायंभुवो मनुः।
कान्यन्वतिष्ठद् द्वाराणि मार्गायावरजन्मनाम् ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २० अ० १ श्लो०)

छप्पय

शौनक पूछें—'सूत! विदुर की बात बताओ।
पुनि जो कही कथा ताहि अब सौम्य सुनाओ॥
कृष्ण कथा अति विमल गङ्ग सम यह अघ हरनी।
भव सागर के पार करन कूँ दृढ़तर तरनी॥
खर, कूकर, सूकर सरिस, वृथा भार तनु को वहहिँ।
हतभागी मृतवत् पुरुष, जो न कथा सुनि सुख लहहिँ॥

जो भी बनता है, पहिले उसका कारण होता है। फिर सूक्ष्म रूप से रचना होती है, तब वह स्थूल रूप धारण करता है। रहने की विभिन्न असुविधाओं के कारण एक घर बनाने का संकल्प उठा। सङ्कल्प उठते ही मन में उसकी रूप रेखा छनने लगी। इतना बड़ा बनावेंगे, ऐसा बनावेंगे, ऐसी सुविधायें

---

* शौनकजी सूतजी से पूछते हैं—"हे रोमहर्षणजी के आनन्दवर्धन! स्वायंभुवमनु ने जीवों की आधारभूत पृथ्वी को पाकर फिर आगे होने वाली सन्तति के लिये किन-किन उपायों का अवलम्बन किया?"

रखेंगे। फिर उसके लिये प्रयत्न करते हैं, तो अपनी इच्छा को स्थूल रूप देते हैं। बनकर तैयार हो जाता है तब लोग कहते हैं—बड़ा सुन्दर घर बना। बाहरी लोग तो उसका बनना तभी समझते हैं जब वह बनकर तैयार होता है, किन्तु बनाने वाले के मन में तो वह बहुत दिनों से बन रहा था और उससे भी पहिले कारण रूप से बना हुआ था। क्योंकि पहिले कभी ऐसा न होता तो ऐसा बन ही नहीं सकता। गृह का कारण तो नित्य है। इसे यों समझें—एक मूर्ति बनाने वाला पत्थर में श्री विष्णु-भगवान् की मूर्ति बनाता है। पहिले मन से सोचकर वह एक चित्र बनाता है, फिर छेनी आदि लेकर पत्थर की शिला को खोद-खोदकर अपने मन के अनुकूल मूर्ति में अंगों के चिन्ह अङ्कित करता है। जब बनकर मूर्ति तैयार हो जाती है, तब लोग कहते हैं—उस कारीगर ने उस काल में बड़ी भव्य मूर्ति बना डाली। वास्तव में बनाने के काल के पूर्व ही उसके मन में वह बन गई थी। मूर्ति कहीं से लाकर उस पाषाण में रख दी हो सो नहीं, कारण रूप से श्रीविष्णु का नित्य ही उसमें वास था। अव्यक्त रूप से उसमें रहते ही थे। चित्रकार ने उन्हें केवल व्यक्त कर दिया। व्यक्त करने की कला उसे किसी अव्यक्तशक्ति द्वारा प्राप्त हुई थी, क्योंकि सभी पुरुष अव्यक्त पाषाण की श्रीविष्णु की मूर्ति को व्यक्त नहीं कर सकते। जिन्हें सामर्थ्य प्राप्त हो, वे ही ऐसा करने में समर्थ हो सकते हैं।

यह जगत् प्रवाह नित्य है। इसका ओर नहीं छोर नहीं, आदि नहीं अंत नहीं। अनंतकाल से यह प्रवाह बह रहा है, अनादिकाल तक बहता रहेगा। अपनी शक्ति से वे ब्रह्मा को उत्पन्न करते हैं, या यों कहो ब्रह्मा बन जाते हैं। ब्रह्मा बन कर प्राचीन-ऋषि मुनियों का स्मरण करते हैं। प्राचीन संसार के सभी उपकरणों को सोचते हैं। कारण में छिपे वे समस्त संसार ब्रह्माजी के मन में प्रकट

होते हैं। यही सूक्ष्मसृष्टि कहलाती है। जब उस सूक्ष्म-सृष्टि के पदार्थों में वासना का प्राबल्य होने लगता है तो वह स्थूलता का रूप धारण करने लगता है। श्रीभगवान्, प्रकाश रूप हैं। उनसे जो जितना ही दूर हटता जायगा वह उतना ही तम की ओर बढ़ता जायगा। तम की ओर बढ़ना अर्थात् स्थूलता को ग्रहण करना है। ब्रह्माजी से ऋषि मुनि कुछ दूर हैं। उनसे प्रजापति, फिर मनु, मनु से मनु पुत्र, मनुपुत्रों से मनुष्य, मनुष्यों से पशु-पक्षी और पशु-पक्षियों से वृक्ष पाषाण आदि। इस प्रकार जो स्थूलता से हटकर सूक्ष्मता की ओर बढ़ेगा, वह उतना ही भगवान् की ओर बढ़ेगा। यह चक्र निरन्तर चलता है। इसे ही उत्पत्ति, प्रलय और जन्म-मरण का प्रभाव कहते हैं। अब सृष्टि का प्रकरण चल रहा है। भगवान् के नाभिकमल से ब्रह्माजी हुए, ब्रह्माजी से दस मानस पुत्र, फिर मनु शतरूपा ये दो मिथुन-जोड़े। इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल सृष्टि होने लगी। इसी को लक्ष्य करके शौनकजी सूतजी से पूछते हैं—"सूतजी! आपने बाराहावतार तथा हिरण्याक्ष उद्धार की बड़ी अद्भुत कथा सुनाई। भगवत् कथा सुनते-सुनते जीवन को बिता देना यही तो मनुष्य जन्म की सार्थकता है। जीवन का यथार्थ लाभ तो विदुरजी ने पाया जो तीर्थयात्रा करके अपने अन्तःकरण को शुद्ध किया, भगवत् भक्ति करके इस लोक-परलोक को बनाया और मैत्रेयजी से कथा प्रसङ्ग चलाकर लोकोपकार किया। सूतजी! संसार में गंगाजी न आतीं और भगवत् कथा न होती तो कोई भी प्राणी इस संसार सागर को पार करके शाश्वत्-शान्ति तथा अक्षय सुख का अधिकारी बन सकता? क्योंकि देहधारियों से ज्ञान में, अज्ञान में, मन से, कर्म से तथा वचन से निरन्तर असंख्यों पाप होते ही रहते हैं। कभी पुण्य भी हो जाता है। यदि उन सबको यथावत् पुण्य पाप भोगना ही पड़े

तो जीव सदा नरक की अग्नि में ही पचता रहे और यदि स्वर्ग का अनित्य, नाशवान्, क्षयिष्णु भोग विलास प्राप्त भी हों—तो वह कुछ दिन के ही लिये। किन्तु भागवत कथा और श्रीत्रिपथगामिनी गंगाजी तो सदा पाप को काटती ही रहती हैं। इसलिये आप उन समस्त पापहारिणी कथाओं को हमें सुनावें जिन्हें विदुरजी ने मैत्रेयजी से पूछा था और पूछने पर उन्होंने जो-जो कही थीं।"

शौनकजी के ऐसे प्रश्न को सुनकर सूतजी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहने लगे—"ऋषियो! आप ही संसारी तापों से संतप्त प्राणियों के सच्चे माता-पिता, हितैषी और सुहृद हैं जो ऐसे प्रश्न करके संसारी लोगों के लिये निष्कंटक—सीधा राजपथ तैयार कर रहे हैं। जब महामना मैत्रेयमुनि ने विदुरजी से वाराह चरित्र कहा तब वे प्रसन्न होकर उनसे अग्रिम-सृष्टि के सम्बन्ध में प्रश्न करने लगे।"

विदुरजी ने पूछा—"ब्रह्मन्! ब्रह्माजी ने मरीचादि दस पुत्रों को और मनु शतरूपा को उत्पन्न करके फिर और कौन-कौन सी सृष्टि की? आगे की सृष्टि सबने मिलकर बढ़ाई या अकेले ब्रह्माजी ही यन्त्र की भाँति बनाते गये? कृपा करके मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दें।"

यह सुनकर हँसते हुए मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! बार-बार सृष्टि का प्रश्न करने से आप हमें सृष्टिकर्ता का सर्वदा स्मरण कराने की चेष्टा करते हैं, यही जीव का परम पुरुषार्थ है। महाभाग! यह तो मैं पहिले ही बता चुका हूँ कि भगवान् की इच्छा होने पर काल कर्म और प्रकृति के संसर्ग से तीनों गुणों में क्षोभ हुआ। इससे महत्तत्व, तीन प्रकार के अहंकार, पंचतन्मात्रायें, पंचभूत, पाँच-पाँच ज्ञान और कर्मेन्द्रियाँ, उनके अधिष्ठातृदेव आदि उत्पन्न होकर अंडाकार बन गये। भगवान् के उसमें प्रवेश

करने पर उनकी नाभिकमल से ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, उन्होंने पंचपर्वा, अविद्या, यक्ष, राक्षस, देवता, असुर आदि की सृष्टि की। फिर दिन-रात्रि सन्ध्या आदि उत्पन्न करके काल विभाग किया। तदनन्तर अप्सरा, गन्धर्व, भूत, पिशाच, निद्रा, तन्द्रा, उन्माद, पितर, साध्य, किन्नर, किंपुरुष, सर्प आदि की रचना की। यह सब रचना होने पर भी ब्रह्माजी को संतोष नहीं हुआ। तब उन्होंने पुरुषाकार शरीर में मनुष्यों को उत्पन्न किया। मनुष्य शरीर को देखकर ब्रह्माजी बहुत प्रसन्न हुए। देवताओं के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे बोले—"पितामह! यह तो आपने अद्भुत-अनुपम सृष्टि की। हमारे भी अन्न जल का प्रबन्ध कर दिया। ये लोग यज्ञ-याग करके हमें भी सन्तुष्ट करेंगे और इसी शरीर से मोक्ष लाभ भी कर सकेंगे। मनुओं के अनन्तर तप, विद्या, योग और समाधि से युक्त ऋषियों की रचना की। उसी समय स्वायंभुवमनु और शतरूपा रानी की उत्पत्ति हुई। शतरूपा सृष्टि में सबसे पहिली नारी हुई। उनका विवाह स्वायंभुव मनु के साथ हुआ।"

विदुरजी ने पूछा—"इनमें श्रेष्ठ कौन हुआ, पुरुष या स्त्री?"

मैत्रेयजी हँसकर बोले—"अब विदुरजी! तुम्हीं समझो इस बात को, कि श्रेष्ठ कौन हुआ? अपने-अपने स्थान पर दोनों ही श्रेष्ठ हैं! दोनों हाथ, दोनों पैर, दोनों नाक-छिद्र, दोनों आँखें, इनमें बड़ा छोटा कौन है? ब्रह्माजी के अंग के ठीक दो भाग हुए। अब इनमें बड़ाई का छोटाई का अनुमान कैसे किया जाय? पुरुष दायें अंग से हुआ स्त्री बायें अंग से हुई। सृष्टि के लिये दोनों ही उपयोगी हैं। बिना दो हाथों के ताली बज ही नहीं सकती। इसलिये दोनों समान हैं।"

विदुरजी बोले—"फिर भी कुछ तो छुटाई-बड़ाई होगी ही।"

मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी! हम तो यह समझते हैं, पहिले-

पहिले पुरुष (ब्रह्मा) ने ही दोनों को उत्पन्न किया इस कर्म से तो पिता श्रेष्ठ है, सृष्टि-वृद्धि शतरूपा से ही हुई इसीलिये माता श्रेष्ठ है। इसलिये माता रूप में जो स्त्री है वहाँ तो स्त्री श्रेष्ठ है और पति पत्नी रूप में जहाँ स्त्री पुरुष का सम्बन्ध है वहाँ पुरुष श्रेष्ठ है। जहाँ पर इस प्रकार की श्रेष्ठता मान्य न होगी, वहाँ कलह अर्थात् कलि आरम्भ हो जायगा।"

यह सुनकर विदुरजी बड़े हँसे और बोले—"महाराज! आपने तो फिर प्रकारान्तर से दोनों को ही समान बता दिया! ठीक भी है, सर्वथा समानता में सृष्टि होती भी नहीं। कुछ असमानता चाहिये और सर्वथा विपरीत में भी सृष्टि संभव नहीं, सृष्टि में आनुकूल्य आवश्यक है। हाँ, तो मनु और शत-रूपा ने मिलकर कितनी संतानें उत्पन्न कीं और उनकी वंशवृद्धि किस प्रकार हुई?"

इस पर मैत्रेय मुनि ने कहा—"भगवान् मनु ने भगवती शतरूपा के गर्भ से प्रियव्रत और उत्तानपाद नाम के दो परम धार्मिक पुत्र उत्पन्न किये जो इस पृथ्वी के राजा हुए। इन्होंने समस्त वसुन्धरा का पुत्रवत् पालन किया। इनके अतिरिक्त आकूति, देवहूति और प्रसूति नामक तीन कन्यायें भी उत्पन्न कीं। देवहूति का विवाह उन्होंने महायोगी-कर्दम प्रजापति के साथ किया, जिसके गर्भ से साक्षात् श्रीमन्नारायण के अंशावतार भगवान् कपिल का जन्म हुआ। आकूति का पाणिग्रहण दक्ष नामक प्रजापति ने किया। इनके द्वारा इतनी संतानें हुईं कि यह चराचर-विश्व उन्हीं की संतानों से भर गया।"

इस पर विदुरजी ने कहा—महान्! हम तो अवतार चरित सुनने को सदा उत्सुक रहते हैं। आप हमें भगवान् कपिलदेव का चरित सुनावें। भगवती-देवहूति का विवाह महामुनि कर्दमजी

के साथ कैसे हुआ और कैसे भगवान् ने अवतार लिया ? यह सब चरित्र विस्तार के साथ हमें सुनावें।"

विदुरजी के ऐसा प्रश्न करने पर प्रसन्न हुए मैत्रेय मुनि कहने लगे—"महाभाग ! आप धन्य हैं जो अवतार-कथाओं को सुनने को इस प्रकार उत्सुक बने रहते हैं। अब मैं भगवान् कपिल के चरित्र को सुनाऊँगा, आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

शौनक मुनि को प्रश्न सूत सुनि हरषे मन महँ।
प्रेम विकल अति भये रोम पुलके सब तन महँ॥
बोले—ऋषियो सुनो ! गये मनु शतरूपा सँग।
दम्पति महँ अति प्रीति प्रेमतें पुलकित अँग-अँग॥
द्वै जनमे अति सुघड़ सुत, प्रियव्रत अरु उत्तानपद।
बाई तनया तीन जग, यश छायो जिनतें विशद॥

विवाह के लिये कर्दमजी की तपस्या

(१५०)

प्रजाः सृजेति भगवान् कर्दमो ब्रह्मणोदितः ।
सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणां समा दश ॥
ततस्तत्प्रसन्नो भगवान् पुष्कराक्षः कृते युगे ।
दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० २१ अ० ६-८ श्लो०)

छप्पय

देवहूति जिहि भाँति विवाही कर्दम ऋषि तें ।
कहूँ भयो कस प्रथम ब्याह सो वैदिक विधि तें ॥
विधि की आज्ञा पाइ चले कर्दम तप के हित ।
विषयनि तें मन रोकि लगायो श्रीहरि महँ चित ॥
बरष सहस्र-दश तप करयो, तनु तें कृश अति ही भये ।
भीषण तप तें तुष्ट है, कमलनयन दरशन दये ॥

श्रीभगवान् की आराधना सकाम भाव से की जाय अथवा

---

* मैत्रेयजी विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी ! जब ब्रह्माजी ने भगवान् कर्दम मुनि को आज्ञा दी कि तुम भी प्रजा की उत्पत्ति करो, तो उनकी आज्ञा पाकर सरस्वती नदी के तट पर वे दश हजार वर्ष तक तपस्या करते रहे । उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर वेद-प्रतिपाद्य ब्रह्म स्वरूप श्रीकमलनयन भगवान् वासुदेव ने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिये । वह सतयुग का समय था ।"

निष्काम भाव से, दोनों ही कल्याणकारी हैं। भक्तों के हृदयों में कामना उत्पन्न करने वाले भी तो वे ही श्रीपति हैं। हृदय में उत्पन्न हुई कामना की पूर्ति के लिये हृदयेश से ही प्रार्थना की जाय, उसकी पूर्ति के लिये उनकी ही शरण ली जाय तो वे कामना की पूर्ति भी करेंगे और अन्त में अपना पद भी प्रदान करेंगे। कोई दीन है भूख से व्याकुल! यदि किसी कृपण क्षुद्र पुरुष से वह प्रार्थना करे तो वह संकोच वश उसे एक दिन की क्षुधा निवृत्ति के लिये कुछ रूखा-सूखा देना चाहे तो दे भी सकता है, नहीं तो मना ही कर देगा। किन्तु किसी उदारमना दयालु समर्थ पुरुष की शरण में जाय तो उसके दुःख को मिटा भी देगा और आगे के लिये भी उसकी वृत्ति का कुछ-न-कुछ प्रबन्ध कर देगा। ईसी प्रकार जो, कामना उत्पन्न होने पर इन संसारी मनुष्यों की, भूत, प्रेत पिशाचों अथवा अन्य क्षुद्र-देवों की शरण में जाते हैं और उनसे याचना करते हैं, तो किसी अंश में उनकी कामना थोड़ी बहुत भले ही पूरी हो जाय, किन्तु उनके सदा के लिये दुख दूर नहीं होते। जो भगवान् की शरण में जाते हैं, उनसे ही अपनी कामनाओं को निवेदन करते हैं, तो कामना पूर्ति के साथ वे परमार्थ पथ के भी पथिक बन जाते हैं, शाश्वती-शान्ति के अधिकारी हो जाते हैं। जो भगवान का दास कहाकर संसारी क्षुद्र-पुरुषों से अपनी कामना की पूर्ति की आशा रखता है, वह हरिदास न होकर विषयदास या मायावी है। वह सदा चौरासी के चक्कर में घूमता रहता है। भगवान् कर्दम मुनि सकाम तपस्या करके अपनी कामना को भी प्राप्त कर सके और अन्त में मुक्ति पद के भी भागी बन गये। इसी प्रसङ्ग को आरम्भ करते हुए भगवान् मैत्रेय विदुरजी से कहने लगे—

महामुनि मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी! भगवान् ब्रह्माजी के एक मानस पुत्र कर्दमजी थे। जब शतरूपा के साथ स्वायंभुव

मनु का विवाह हो गया, तो उनके मन में भी कुछ विवाह की इच्छा हुई। भगवान् की प्रेरणा ही ऐसी थी, नहीं तो उनके मन में भला कामना का अंकुर कैसे उत्पन्न हो सकता था? हाथ जोड़कर उन्होंने समस्त प्राणियों के पितामह भगवान् ब्रह्मदेवजी से निवेदन किया—"प्रभो! मेरे लिए क्या आज्ञा होती है?"

ब्रह्माजी को तो वही एक ही धुनि, किसी प्रकार प्रजा की वृद्धि हो, सृष्टि का चक्र चले। इसीलिये वे बड़े स्नेह से बोले—"भैया! इस समय तो सर्व श्रेष्ठ कार्य यही है कि सृष्टि-वृद्धि में तुम भी हमारा हाथ बटाओ। प्रजा उत्पत्ति में ही प्रयत्नशील होओ।"

हाथ जोड़कर नम्रता के साथ उन्होंने कहा—"महाराज! मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, किन्तु कैसे प्रजा की वृद्धि करूँ? यह बात अभी मेरी बुद्धि में नहीं आती।"

ब्रह्माजी समझ गये उनके भाव को और बोले—"देखो भैया! भगवान् के भजन के सम्मुख कोई बात असाध्य नहीं। तुम भगवान् की शरण में जाओ, तपस्या करो! तपस्या से सभी सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त हो सकती हैं। तुम तो पत्नी ही चाहते हो, भक्ति करने से पत्नी भी मिलेगी और भगवान् भी मिलेंगे।"

ब्रह्माजी की ऐसी आज्ञा पाकर महामुनि कर्दम, अर्बुद-शैल के समीप भगवती सरस्वती के तट पर जाकर घोर तपस्या करने लगे। वे यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि योग के अंगों को करते हुए समाधि के द्वारा परात्पर-प्रभु की आराधना में निमग्न हो गये। सब ओर से उन्होंने अपने चित्त की वृत्तियों को बटोर कर मन को श्रीभगवान् की ओर लगाया और इस प्रकार वे दस हजार वर्ष तक घोर तपस्या करते रहे।

इधर शतरूपा के साथ विवाह करके स्वायंभुवमनु ने, पृथ्वी

में गंगा यमुना के मध्य में ब्रह्मावर्त प्रदेश को सर्वश्रेष्ठ महा-पुण्यप्रद समझकर, वहाँ अपनी राजधानी बनाई। ब्रह्मावर्त में रहकर वे पृथ्वी का धर्मपूर्वक शासन करने लगे। उनके प्रियव्रत, उत्तानपाद नामक दो बड़े ही प्रतापशाली पुत्र हुए और देवहूति, आकूति और प्रसूति नाम की तीन कन्यायें हुईं।

देवहूति बड़ी सुशीला, धर्म परायणा, भक्तिमती और साधुस्वभाव की लड़की थी। वह निरन्तर भगवान् के भजन में ही तत्पर रहती थी। उसे न तो क्रीड़ा ही प्रिय थी और न बहुत इधर-उधर की बातें ही अच्छी लगती थीं। चुपचाप बैठी वह भगवान् का चिन्तन ही करती रहती। बाल्यकाल से ही वह इतनी सुन्दरी थी, कि जो भी कोई उसे देखता वही प्रसन्न हो जाता। जब वह कुछ सयानी हुई, तो वैसे ही एक समय कौतुकवश क्रीड़ा-कन्दुक को लेकर, अकेली अपनी छत पर उसे उछालती हुई इधर से उधर घूम रही थी। उसी समय विश्वावसु गन्धर्व अपने विमान पर बैठकर आकाश मार्ग से कहीं जा रहा था। उसने जब यह अनुपम रूप-लावण्य युक्त बाला को इस प्रकार क्रीड़ा करते देखा, तो वह कामी-गन्धर्व इसके सौन्दर्य से ऐसा मोहित हुआ कि शरीर की सुधि भूलकर विमान से धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। अपने मानसिक-पाप का उसने उसी क्षण फल भोग लिया।

जिस प्रकार शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा, नित्य प्रति बढ़कर अपनी शीतल किरणों से संसार के अन्य सभी लोगों को तो सुख प्रदान करता है, किन्तु कामियों की चिन्ता को और बढ़ाता है। उसी प्रकार देवहूति के प्राप्तवयस्का होने पर और सबको तो सुख हुआ, किन्तु उसके माता-पिता की चिन्ता बढ़ गई। अब देवहूति ने बाल्यावस्था को पार करके यौवनावस्था में पदार्पण किया। माता-पिता की इच्छा थी अपनी सर्वगुण सम्पन्ना प्राणों

से भी प्यारी पुत्री को किसी योग्य वर को प्रदान करें जिससे इसका भविष्य जीवन सुखमय हो सके। वे इस प्रकार चिन्ता समुद्र में मग्न ही थे, कि राम-कृष्ण गुन गाते वीणा बजाते देवर्षि नारद बर्हिष्मती नामक मनु की राजधानी में पहुँच गये। ब्रह्मपुत्र भगवान् नारद को आते हुए देखकर सातों द्वीपों के अधिपति महाराज स्वायम्भुव मनु उठकर खड़े हो गये। उन्होंने पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय और फल मूल देकर ऋषि का सत्कार किया। उन्हें बैठने को सुन्दर मणिमय आसन दिया। शास्त्रीय विधि से सम्राट् की पूजा को स्वीकार करके जब स्वस्थ चित्त से नारदजी बैठ गये, तब उन्होंने सम्राट् के मन्त्री, कोष, अन्तःपुर, परिवार आदि की कुशल पूछी। दोनों ओर से कुशल प्रश्न हो जाने के अनन्तर महारानी शतरूपा पधारीं उन्होंने आकर विधिवत् मुनि को प्रणाम किया और अपने बच्चों को भी मुनि के चरणों में डाला। सबको यथा योग्य प्यार करके, आशीर्वाद देकर मुनि ने उन्हें बैठने की आज्ञा दी। महाराज के बगल में महारानी-शतरूपा बैठ गईं, बच्चे सब उनके सम्मुख बैठे।

इसके अनन्तर भगवान् नारद ने हँसते हुए महाराज मनु से पूछा—"राजन्! आप कुछ चिन्तित से दिखाई देते हैं। मैं ऐसा अनुभव कर रहा हूँ कि आपको कोई भारी मानसिक चिन्ता है; आप अपनी चिन्ता का कारण मुझे बताइये। यथाशक्ति मैं आपकी चिन्ता को मिटाने का प्रयत्न करूँगा।"

देवर्षि नारद की ऐसी मधुर, सुहृद और ममता भरी वाणी सुनकर महाराज मनु बोले—"ब्रह्मन्! यह गृहस्थ-आश्रम चिन्ता का सागर ही है। इसमें निरन्तर एक के पश्चात् दूसरी चिन्ता रूपी ऊर्मियाँ उठती ही रहती हैं। गृहस्थी की चिन्ता के प्रधान दो ही कारण होते हैं, धन और सन्तान। धन न हो तो उसकी प्राप्ति की चिन्ता। यदि हो, तो उसे बढ़ाने, रक्षा

करने आदि की चिन्ता। सन्तान न हो तो उसकी चिन्ता, हो तो उसके पालन-पोषण, योग्य बनाने और विवाह आदि की चिन्ता। इन सभी चिन्ताओं से बढ़कर सयानी लड़की के विवाह की चिन्ता होती है। धर्म को जानने वाले पिता के लिये उसके सम्बन्ध की चिन्ता उसे तब तक व्यथित करती रहती है जब तक कि योग्य घर-वर देखकर उसका विवाह न हो जाय। विवाह के पश्चात् भी उसके सुख आदि की चिन्ता रहती तो है ही, किन्तु वह उतनी अधिक नहीं होती। आपकी कृपा से मेरे यहाँ धन की कोई कमी नहीं। भगवान् की दी हुई सन्तानें भी पाँच हैं। इस समय मुझे सबसे अधिक चिन्ता इस बच्ची देवहूति की है। यह अब विवाह योग्य हो गई। मैं चाहता हूँ इसे इसके अनुरूप ही कोई भगवान् का परमभक्त, तपस्वी सदाचारी वर मिले। यही चिन्ता मुझे सदा व्यथित करती रहती है।"

समीप में बैठी हुई देवहूति यह सब सुन रही थी। वह लज्जा के कारण सिकुड़ी जाती थी, निरन्तर पृथ्वी की ओर देख रही थी और पैर के अँगूठे से पृथ्वी को कुरेद रही थी।

देवर्षि नारद यह सुनकर कुछ देर मौन रहे और फिर देवहूति को लक्ष्य करके बोले—"बेटी! इधर आना, तेरा हाथ तो देखूँ।"

लड़की सकपका गयी, लज्जित होकर वह अपने माता-पिता की ओर देखने लगी। दोनों ने एक साथ ही शीघ्रता से कहा—"जा बेटी! देख भगवान् बुला रहे हैं, प्रणाम करके उनके सम्मुख जा।" अत्यन्त सम्भ्रम के साथ देवहूति ने मुनि को प्रणाम किया और बहुत अधिक लजाती, अपने शरीर में विलीन-सी होती हुई, सिर नीचा करके मुनि के समीप खड़ी हो गई। मुनि ने अरुण कमल की आभा के सदृश उसके कोमल कर को अपने हाथ में लेकर रेखाओं द्वारा उसका शुभाशुभ

देखा। सब देख-सुनकर वे बोले—"राजन्! यह आपकी बच्ची तो बड़ी भाग्यवती है। यह तो संसार में बड़ी यशस्विनी होगी। अब मुझे याद आ गई। सरस्वती के तट पर महामुनि कर्दम, बड़ी घोर तपस्या कर रहे हैं। वे दूसरे प्रजापति ही हैं। रूप में, गुणों में, वय और सदाचार में सर्वथा इस बच्ची के अनुरूप ही हैं। उनसे बढ़कर तपस्वी, यशस्वी, धर्मात्मा और सत्यपरायण मैं किसी को नहीं देखता। आप अपनी इस कन्या का विवाह उनके ही साथ कर दें।"

देवहूति का हाथ देखते-देखते ही भगवान् नारद यह कह रहे थे, देवहूति का हृदय बाँसों उछल रहा था। लज्जा के कारण वह गड़ी जा रही थी। यदि मुनि हाथ न देख रहे होते तो वह भागकर महल में चली जाती, किन्तु अब तो वह भाग भी नहीं सकती थी। वहीं नीचा सिर किये खड़ी रही। मुनि ने जब हाथ छोड़ा तो वह उन्हें प्रणाम करके भीतर चली गई।

मुनि के वचन सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए भगवान् मनु बोले—"भगवन्! महामुनि कर्दम की प्रशंसा तो मैं भी बहुत दिनों से सुन रहा हूँ। किन्तु मुझे साहस नहीं हुआ कि उनसे ऐसा प्रस्ताव कर सकूँ। वे तपस्वी हैं, ब्रह्मचारी हैं, ऐसा न हो इस प्रस्ताव से वे कहीं मुझ पर कुपित हो जायँ। यदि वे मेरी इस बच्ची को स्वीकार कर लें तो इसका जन्म सुफल हो जाय और मैं भी सदा के लिये निश्चिन्त हो जाऊँ। वे सर्वथा इसके अनुरूप ही हैं।"

महामुनि नारदजी ने कहा—"राजन्! आप इस विषय में चिन्ता न करें। महामुनि कर्दम के भावों को मैं जानता हूँ। देखिये, ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं एक तो नैष्ठिक दूसरे उपकुर्वाण। जो जीवन पर्यन्त विवाह न करके अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वे नैष्ठिक कहलाते हैं और जो केवल विवाह

पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करते हैं, वे उपकुर्वाण कहे जाते हैं। कर्दमजी उपकुर्वाण ब्रह्मचारी ही हैं। ब्रह्मचर्य के पश्चात् वे योग्य कन्या मिलने पर विवाह भी कर सकते हैं। इसलिये आप अपनी इस सर्वलक्षण सम्पन्ना कन्या को उन्हीं त्यागी, तपस्वी, सर्वसमर्थ मुनि को प्रदान कर दें। ऐसा करने से इसका भी संसार में यश बढ़ेगा और आप भी परम पुण्य के भागी बनेंगे।"

नारदजी की ऐसी बात सुनकर स्वायंभुवमनु के हर्ष के मारे रोम-रोम खिल उठे। प्रेम के कारण कंठ रुक जाने से वे कुछ भी न कह सके। कुछ काल में वे प्रकृतिस्थ होकर कहने लगे— "महामुने! आपने बड़ी कृपा की। मुझे महान् चिंता से मुक्त कर दिया। संसार में साधु-सन्तों का भ्रमण परोपकार के ही निमित्त होता है। उनके दर्शन मात्र से ही मनुष्यों के दुःख दूर हो जाते हैं। भगवन्! मैं कल अवश्य ही अपनी पुत्री और पत्नी को साथ लेकर भगवती सरस्वती के तट पर महामुनि कर्दमजी के आश्रम पर जाऊँगा, और उन्हें प्रार्थना–विनय–के द्वारा प्रसन्न करूँगा।"

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार स्वायंभुवमनु से सत्कृत होकर, उनसे विदा होकर देवर्षि नारद स्वेच्छा से वीणा बजाते हुए अन्य लोकों की ओर चले गये। इधर महारानी शतरूपा भी पुत्री के सहित कर्दम मुनि के आश्रम में जाने की तैयारियाँ करने लगीं।"

छप्पय

इत नारद मुनि देवहूति पितु के ढिंग आये।
कन्या हित अति खिन्न लखे तब बचन सुनाये॥
कन्या-दान निमित्त जाहु ढिंग कर्दम मुनि के।
अति प्रसन्न नृप भये बैन मुनिवर के सुनिके॥
यदि कर्दम कन्या गहहिं, मन वांछित फल पाउँगो।
पुत्री पत्नी संग लै, कालि तहाँ हौं जाउँगो॥

श्रीकर्दमजी को भगवद्दर्शन और वरदान

[१५१]

तथा स चाहं परिवोढुकामः,
समानशीलां गृहमेधधेनुम् ।
उपेयिवान्मूलमशेषमूलम्
दुराशयः कामदुघाङ्घ्रिपस्य ॥*
(श्री भा० ३ स्क० २१ अ० १५ श्लो०)

छप्पय

तपपति, तपते तुष्ट भये निज रूप दिखायो ।
अद्भुत शोभा सहित, निरखि मुनि चित्त लुभायो ॥
चरण, अधर, कर, अरुण, मधुर सिर मुकुट मनोहर ।
आयुध अस्त्र समेत कमल कर लिये गदाधर ॥
श्रीपति सम्मुख निरखि के, परम मुदित मुनिवर भये ।
हड़बड़ाइ के दण्ड सम, विकल मही पर परि गये ॥

जीव में में यही अपूर्णता है, कि वह अपनी कामना पूर्ति के

---

* महामुनि कर्दमजी भगवान् से वरदान मांगते हुए उनसे विनय करते हैं—"हे प्रभो ! जो कामना से उपासना करते हैं उन्हीं के समान मैं दुरात्मा हूँ, कल्पवृक्ष के समान इच्छाओं को पूर्ण करने वाले आपके चरणों की शरण में आकर, अपने अनुकूल स्वभाव वाली धर्म अर्थ और काम रूपी त्रिवर्ग को प्राप्त कराने वाली गृहस्थ की कामधेनु—पत्नी को चाहता हूँ।"

लिये भगवान् से याचना करता है। चराचर विश्व की सृष्टि, स्थिति और प्रलय के एकमात्र स्वामी, कर्मों के नियामक प्रभु घट-घट की जानते हैं। किस जीव का किस कार्य से कल्याण होगा, इसका सबसे अधिक पता उन्हें ही रहता है। हम बीच में अपना कर्तृत्व स्थापित करके चिन्ता और बढ़ा लेते हैं। भगवान् अपने भक्तों के लिये कल्प-तरु के समान मनोवांछित फल देने में समर्थ हैं। मुक्ति उसके आश्रय से प्राप्त नहीं हो सकती किन्तु भगवान् वासुदेव तो भुक्ति-मुक्ति दोनों ही देने में समर्थ हैं। उनका आश्रय ग्रहण करने पर जीव जो भी चाहता हैं, वही प्राप्त हो जाता है। इसी बात को लक्ष्य करके मैत्रेय मुनि, विदुरजी से आगे की कथा कहने लगे।

मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी! इधर नारद मुनि तो स्वायंभुवमनु से ऐसा कहकर चले गये। उधर कर्दम मुनि की भी तपस्या पूर्ति का समय आ उपस्थित हुआ। उनके घोर तप से प्रसन्न होकर वर देने वालों में श्रेष्ठ, भक्तवत्सल-भगवान् कर्दममुनि के सम्मुख प्रकट हुए। मुनिवर कर्दम, सरस्वती तट के अपने परम रमणीय आश्रम में स्वस्थ चित्त होकर सुखासन से विराजमान थे। उन्होंने चित्त की बिखरी वृत्तियों को एकत्रित करके भगवान् में लगा दिया था। वे धारणा ध्यान से ऊँचे उठकर समाधि में श्यामसुन्दर-श्रीहरि का साक्षात्कार कर रहे थे। भगवान् के सौन्दर्य माधुर्य रूपी-अमृत के पान करने के कारण वे इतने सन्तुष्ट थे, कि उन्हें बाह्य जगत् का भान ही नहीं था कि बाहर क्या हो रहा है! भगवान् की जिस मनोमयी-मूर्ति का वे ध्यान कर रहे थे, सहसा वह उनके हृदय से अन्तर्हित हो गई। ध्येय वस्तु के विलीन हो जाने से व्याकुल हो गए, उनकी समाधि भंग हो गई, हड़बड़ाकर उन्होंने आँखें खोल दी। आँखें खोलते ही वे क्या देखते हैं—

समाधि में जिस मनोमयी—मूर्ति का ध्यान कर रहे थे, वह प्रत्यक्ष, हँसती हुई सम्मुख खड़ी है। शंख, चक्र, गदा और पद्म आदि आयुधों को धारण किये, वनमाला पहिने, कौस्तुभ-मणि की चमक-दमक से दशों दिशाओं को प्रकाशित करते हुए रेशमी पीताम्बर को फहराते, मन्द-मन्द मुस्कराते हुए श्रीविष्णु सशरीर मूर्तिमान खड़े हैं। कोटि सूर्य-चन्द्रों के समान उनका निर्मल प्रकाश चारों ओर छिटक रहा है। अद्भुत अनुपम आनन पर असित अलकावलि बिखरकर फहरा रही है। विद्युत-प्रभा को भी लज्जित करने वाला पीताम्बर हिल-हिलकर मानों भक्तों को आश्वासन देता हुआ अभय प्रदान कर रहा है। कान के कमनीय कनक कुण्डल कपोलों की कौमुदी को प्रकाशित करते हुए झोंके खा रहे हैं, कमनीय कर में सुशोभित क्रीड़ा-कमल चित्त के समान चंचल हो रहा है। मन्द-मन्द मधुर मनहर मुसकानमयी चितवन, चित्त को चुराती हुई भक्तों के हृदयों में संजीविनी सुधा का संचार कर रही है। वायु के वेग को भी लज्जित करने वाला जिनका वेग है, जिनके पंखों से सदा स्वतः सामवेद के मन्त्रों की ध्वनि निकलती रहती है, उन विनतानन्दन गरुड़जी की पीठ पर स्थित दिव्यासन पर जो विराजमान हैं, भगवान् को आकाश में अधर खड़े देखकर कर्दम मुनि की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा। संभ्रम के साथ सहसा हड़बड़ा कर उठ खड़े हुए। प्रेमोद्रेक में वे अपने कर्तव्य का निर्णय ही न कर सके। किंकर्तव्यविमूढ़ से बनकर प्रेम में व्याकुल हुए अपने को कृतकृत्य समझकर साष्टांग प्रणाम करते हुए दण्डे के समान पृथ्वी पर पड़ गये। अत्यंत प्रेम के कारण उनके दोनों नेत्रों से स्नेह के अश्रु बह रहे थे। प्रणाम करने के अनन्तर वे गद्‌गद-कंठ से भगवान् वासुदेव की स्तुति करने लगे।

कर्दम मुनि ने कहा—"प्रभो ! ये आँखें इन संसारी पदार्थों को वासनायुक्त देखते-देखते कलुषित हो गई हैं। इनका होना

तभी सफल कहा जा सकता है जब इनसे आपके दर्शन हो सकें। आपके दर्शन, योग आदि साधनों से भी बिना आपकी कृपा के नहीं हो सकते। यह जीव संसार में माया के वशीभूत

होकर अवश हुआ नाना योनियों में घूम रहा है। संसारी भोगों का जब इन्द्रियों से संसर्ग होता है, तो उनके उपभोग की इच्छा होती है। उपभोग से वासना बढ़ती है, वासना से संसार बन्धन बढ़ता है। इसलिये संसार से मुक्त करने वाले आपकी जो लोग विषयों की प्राप्ति के लिये उपासना करते हैं, वे उसी प्रकार हैं जैसे कोई सम्राट् को प्रसन्न करके उससे भूसी की याचना करे। कल्प वृक्ष के नीचे बैठकर मदार के दूध की इच्छा करे। भगवती भागीरथी के तट पर पहुँच कर भी क्षुद्र सड़े तालाब के जल को पीना चाहे। किन्तु आपके लिये तो कोई वस्तु अदेय है ही नहीं। आपके चरणों की शरण में जो जिस भावना से जाता है, आपके समीप भक्त जिस वस्तु की याचना करता है, आप उसे वही देते हैं। आप आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी सभी प्रकार के भक्तों की मनोकामना पूरी करते हैं। अर्थार्थी को अर्थ, विद्यार्थी को विद्या, धनार्थी को धन, पुत्रार्थी को पुत्र, कामार्थी को काम और भार्यार्थी को सुन्दर मनोनुकूल भार्या भी देते हैं।"

भगवान् हँस पड़े और बोले—"कर्दमजी! हाँ, वे लोग माँगते होंगे किन्तु आप तो इतनी घोर तपस्या दस हजार वर्ष से कर रहे हैं, आप तो उनमें नहीं हैं? आप तो मेरी निष्काम-भाव से आराधना करते होंगे?"

कर्दमजी ने कहा—"नहीं भगवन्! मैं भी उन्हीं अज्ञ पुरुषों में से हूँ, मेरी भी तपस्या निष्काम नहीं है। मन में कामना रख कर ही मैं आपका ध्यान करता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"कर्दमजी! आपकी क्या कामना है? मुझे बताओ। मैं उसे अवश्य पूरी करूँगा।"

कर्दमजी कुछ लजाते हुए बोले—"महाराज! क्या बताऊँ? आप सर्वज्ञ, घट-घट की जानने वाले हैं। मैं धर्म, अर्थ, काम

तथा समस्त विषय सुखों को देने वाली एक सुन्दर-सी कामधेनु चाहता हूँ।"

भगवान् हँसे और बोले—"समुद्र-मन्थन के समय पाँच कामधेनु तो निकली थीं, किन्तु वे ऋषियों ने ही ले लीं, उन्हीं गौओं में से एक कामधेनु-गौ तुम कहो तो किसी ऋषि से तुम्हें दिला दूँ! तुम्हारे आश्रम में बँधी रहेगी। उससे जो कहोगे सामग्रियाँ उत्पन्न कर देगी।"

कर्दमजी संकोच में पड़ गये। भगवान् बड़े खिलाड़ी हैं, सब बात खोद-खोदकर पूछ रहे हैं, स्पष्ट कहलाना चाहते हैं, अतः लजाते हुए बोले—"महाराज! मुझे चार पैर वाली कामधेनु नहीं चाहिये। मुझे तो चार पैर वाली कामधेनु से भी श्रेष्ठ दो पैर की कामधेनु चाहिये। वह कामधेनु तो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि सुख देने वाली वस्तुओं को ही उत्पन्न करती है, किन्तु यह जो मैं दो पैर वाली कामधेनु माँग रहा हूँ, यह स्वयं इन सब तन्मात्राओं के सुखों को देने वाली है। उसका स्वर सदा वीणा को विनिंदित करने वाला बना रहता है। पुरुष तो जहाँ पन्द्रह, सोलह वर्ष के हुए कि उनकी वाणी भारी होकर भर्रा जाती है। जिसका रूप सुखद, सब रसों की दातृ, गंध और स्पर्श मनोज्ञ होता है-मैं उस कामधेनु को हृदय खूँटी पर बाँधना चाहता हूँ, गृहेश्वरी-और हृदयेश्वरी बनाना चाहता हूँ। गृह स्वामिनी होने से उसे गृहिणी भी कहते हैं।"

समीप में बैठी लक्ष्मीजी मन-ही-मन मुस्कुरा रही थीं, भगवान् ने भी उनकी ओर देखा, दोनों की आँखें चार हुईं। दोनों ही हँस पड़े। फिर बोले—"अच्छा, मुनिवर! आप अपने अनुरूप बहू चाहते हैं? अब गृहस्थ बनने की इच्छा है?"

कर्दम मुनि लजाते हुए बोले—"भगवन्! क्या बताऊँ?

इच्छा को उत्पन्न करने वाले भी आप ही हैं। आपकी वेदाज्ञा रूपी रस्सी में सभी जीव बँधे हैं, आप उन्हें जैसे घुमाते हैं, घूमते हैं। हमारा इसमें क्या दोष ? नहीं तो आपको प्रसन्न करके भी आपसे मैं विषय-सुखों की ही याचना क्यों करता ? आपके भक्त तो इन संसारी विषयों की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। वे तो निरन्तर आपके कथा-कीर्तन रूपी अमृत का ही परस्पर मिलकर व्यग्रता के साथ पान करते रहते हैं। आपके नाम कीर्तन से, गुण कीर्तन से उनकी कभी तृप्ति ही नहीं होती, सदा अतृप्त बने-देह धर्मों को भूले-बावलों की भाँति पागल और सिड़ियों की तरह सदा आपके ध्यान में ही मग्न रहते हैं। आपकी कीर्ति रूपी सुधा का पान करके वे अजर-अमर बन जाते हैं। आप सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान हैं। भक्त आपसे जो माँगता है, आप उसे वही देते हैं, फिर भी इन संसारी विषयों का प्रदान आपको इष्ट नहीं। अपने भक्तों को वैषयिक वस्तुयें देकर आप सन्तुष्ट नहीं होते। इसलिये आप मेरी इस विवाह की इच्छा को भी पूरी कर दें, और अन्त में इस संसार-सागर से मेरी मुक्ति भी कर दें। आपके समान ही एक सुन्दर-सा पुत्र मेरे हो जाय, उसे पाकर मैं इस लोक-परलोक दोनों के ही चरम सुखों को अर्थात् भोग व मोक्ष को प्राप्त कर सकूँ।"

भगवान् हँस पड़े और मन-ही-मन सोचने लगे—"देखो, मुनि कितने बुद्धिमान हैं। तपस्या करने से कितनी बुद्धि निर्मल हो गई है। एक साथ ही सुन्दर बहू माँग ली। पुत्र माँग लिया, पुत्र भी साधारण नहीं, मुझे ही बेटा बना लिया। अन्त में मुक्ति भी माँग ली। किन्तु मैं तो भक्तों के हाथ बिक चुका हूँ। वे मुझसे जो भी माँगेंगे वही मैं उन्हें बिना विचार के दूँगा। यह सोचकर भगवान् बोले—"मुनिवर ! आपने तो एक साथ सब वस्तुएँ ही माँग लीं।"

यह सुनकर मुनि मन-ही-मन प्रसन्न होते हुए बोले—"महाराज ! सुमेरु पर पहुँचकर सुवर्ण की कंजूसी क्यों की जाय ? आपके दर्शन हो जाने पर भी फिर कोई इच्छा आगे के लिये शेष रह सकती है क्या ? आप दया सागर की शरण में प्राप्त होकर भी क्या मैं अपूर्ण-काम रह सकता हूँ ? आपके दर्शन ही समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"मुनिवर ! जो भावना रखकर आपने मेरी आराधना की है, वह मुझसे छिपी हुई नहीं हैं। मैं आपके मनोगत भावों को जानता हूँ। मेरी आराधना कोई किसी भी भाव से कितनी भी करे, वह कभी निष्फल जा ही नहीं सकती। फिर तुम्हारे जैसे त्यागी, विरागी मुझमें ही सदा मन को लगाये रहने वाले मुनीश्वर की तपस्या व्यर्थ कैसे हो सकती है ? मैं तुम्हारी समस्त इच्छाओं की पूर्ति करूँगा। तुम्हारे कहने से पूर्व ही मैंने तुम्हारे विवाह का डौलडाल ठीक कर रखा है। सब साज सामान जुटा रखा है। सब संयोग पहिले ही से भिड़ा रखे हैं।"

मुनि का हृदय तो बाँसों उछलने लगा। वे बोले—"तब, महाराज ! अब मैं कब तक और प्रतीक्षा करूँ ?"

भगवान् हँसते हुए और अपनी बात पर बल देते हुए बोले—"अजी, अब कब तक का क्या काम ? बस, कल का दिन गया, परसों चाई-माई फिर जायँगी, भाँवरें पड़ जायँगी। तुम्हें मनोहारिणी-गृहिणी मिल जायगी।"

कर्दम मुनि अपनी उत्सुकता को दबाते हुए बोले—"महाराज ! अभी न कुछ बात न चीत, सगाई न सम्बन्ध। परसों कैसे हो जायगा विवाह ? कहाँ से लड़की आयगी, कौन मुझ जटाजूट, धूल धूसरित बाबाजी को अपनी बेटी ब्याह देगा ? किन्तु आपके लिये कुछ असम्भव भी नहीं। आपके स्वाँस लेने

और छोड़ने से सृष्टि-प्रलय होती है, फिर एक विवाह की बात है ?"

मुनि को अत्यन्त उत्सुक देखकर भगवान् बोले—"मुनिवर ! आप धैर्य धारण करें। साधारण पुरुष की लड़की से नहीं सातों द्वीपों के चक्रवर्ती सम्राट महाराज मनु की पुत्री से आपका विवाह होगा। वह लड़की भी ऐसी-वैसी नहीं, लक्ष्मीजी के समान रूप, गुण, वय, शील और सदाचार से युक्त परम सुन्दरी राज-पुत्री होगी ! उसी के साथ तुम्हारा विवाह होगा, तुम्हें कन्या माँगने उनके घर न जाना पड़ेगा। कन्या को लेकर राजा-रानी स्वयं ही आपकी कुटी पर आवेंगे और आपके चरणों में नाक रगड़ेंगे। मेरे भक्तों की सभी इच्छायें, प्रतिष्ठा के सहित पूरी होती हैं। उनके सभी कामों को मैं स्वयं ही सम्पन्न करता हूँ।"

कर्दमजी के मन में यह बात आई, कि कहीं राजा की लड़की मुझ त्यागी, विरागी के आश्रम पर रहकर असन्तुष्ट न हो जाय। कहीं हम दोनों में मनमुटाव न हो जाय। भगवान् उनके मनोभाव समझकर बोले—"देखो, वह लड़की परम सुशीला, श्यामा, सुन्दर, सद्गुणसम्पन्ना है वह तुम्हें पति रूप से प्राप्त करके ईश्वर बुद्धि से श्रद्धा सहित तुम्हारी सेवा करेगी। वह भी मेरी आराधना करती रही है, तुम्हारा दस हजार वर्ष तपस्या करने से अन्तःकरण परम निर्मल हो गया है। अतः तुम दोनों की जुगल जोड़ी अनुरूप होगी, दम्पति में दिन दूना रात चौगुना प्रेम बढ़ेगा।"

कर्दमजी ने सोचा—"गृहस्थ के जब तक सन्तान नहीं होती, तब तक उसका घर सूना-सूना-सा दिखाई देता है। संतानें आने होंगी कि नहीं ?" उनके मनोगत भावों को समझकर भग-

वान् बोले—"मुनिवर आपके वीर्य से उस मनु पुत्री के परम यशस्विनी नौ कन्यायें होंगी।"

कर्दमजी ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज! एक दो भी नहीं–पूरी नौ, सो भी कन्यायें ही कन्यायें। एक कन्या के लिये ही वर ढूँढ़ने को पिता सदा चिन्तित रहता है। नौ के लिये मैं कहाँ वर ढूँढ़ता फिरूँगा? मैं तो संसार के व्यवहार भी नहीं जानता।"

भगवान् उनके भोलेपन पर हँस पड़े और बोले—"मुनिवर! कन्या का जन्म घर में बड़े भाग्य से होता है। संसार में अन्नदान, पृथ्वी दान, गौदान, सुवर्णदान, ये सर्वश्रेष्ठ दान बताये गये हैं, किन्तु कन्यादान इन सभी दानों से श्रेष्ठ है। एक सुशीला सुन्दरी कन्या का वस्त्रालंकारों सहित दान करके मनुष्य अक्षय पुण्य का भागी बनता है। आपको वर ढूँढ़ने कहीं जाना न पड़ेगा। नौ के नौऊ वर यहीं आ जायँगे, यहीं उनका विवाह हो जायगा। आपकी कन्याओं के गर्भ से ऐसे पुत्र उत्पन्न होंगे, जो इस पृथ्वी को अपनी सन्तानों से भर देंगे।"

कर्दमजी ने कहा—"महाराज! कन्या तो ठीक ही हैं, किन्तु एक आध वंश चलाने वाला—'पुं' नामक! नरक से उद्धार करने वाला पुत्र भी तो चाहिये।"

भगवान् मुस्कुराये और बोले—"मुनिवर! मैं आया तो था, पिता बन के, किन्तु तुमने मुझे पुत्र बना लिया। मेरे भक्त के मुख से भूल में भी कोई बात निकल जाती है, तो मैं उसे पूरी करता हूँ। तुमने कहा था 'मेरे आपके सदृश पुत्र हो।' मेरे समान तो संसार में मैं ही हूँ। अतः मैं ही अपने अंश से तुम्हारे यहाँ पुत्र बनकर, प्रकट होकर तुम्हारे यश को संसार में विस्तारित करूँगा और तुम दोनों को संसार से सदा के लिये मुक्त कर

दूँगा। बोलो और क्या चाहते हो? और भी जो तुम ˆ उसे मैं दूँगा।"

यह सुनकर गद्गद् कण्ठ से कर्दम मुनि कहने ˎ "प्रभो! अब भी कुछ माँगने को शेष रह गया क्या? मैंने पत्नी के लिये तप किया था। राजपुत्री-सुन्दरी पत्नी का ˎ नौ कन्याओं का वरदान, आप पुत्र बनकर मेरे यहाँ ˎ होंगे, इसका वरदान और मुझे पत्नी सहित संसार से पार कर देंगे! ये सब वरदान आपने एक साथ ही दे दिये। मुक्ति मुक्ति दोनों ही तो मिल गई। बड़ों के सम्मुख थोड़ी याचना करने पर भी बहुत मिलता है, अब मैं क्या कहूँ?"

मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी! इतना कह कर प्रेम विह्वल हुए मुनि भगवान् के सम्मुख साष्टाङ्ग-दण्डवत करने को पड़ गये। आँख उठाकर जो ऊपर देखते हैं, तो सामवेद की ऋचाओं को अपने पंखों से उच्चारण करते हुए गरुड़जी भगवान् को उड़ाये लिये जा रहे हैं। क्षण भर में ही वे मुनि की दृष्टि से ओझल हो गये। कर्दमजी ऊपर देखते के देखते ही रह गये।"

छप्पय

कीन्हीं बहु विधि विनय बताई इच्छा अपनी।
कामधेनु सम सुखद सुन्दरी चाहूँ घरनी॥
हरि हँसि बोले—बहू मिलेगी सरसिज नयनी।
मनु पुत्री अति सुघड़ सुशीला कोकिल बयनी॥
नौ कन्याएँ होयँगी, निज यश तें जग भरिहौ।
देहुँ ज्ञान तव तनय बनि, आप तरें माँ तरिहौ॥

मनु का कर्दम मुनि के आश्रम में आगमन

(१५२)

मनुः स्यन्दनमास्थाय शातकौम्भपरिच्छदम् ।
आरोप्य स्वां दुहितरं सभार्यः पर्यटन्महीम् ॥
तस्मिन् सुधन्वन्नहनि भगवान् यत्समादिशत् ।
उपायादाश्रमपदं मुनेः शान्तव्रतस्य तत् ॥*
(श्री भा० ३ स्क० २१ अ० ३६, ३७ श्लो०)

छप्पय

दीन्हों हरि पर बिन्दु अश्रु नयननि तें निकसे ।
बिन्दुसरोवर भयो विमल जल सरसिज बिकसे ॥
इत मनु पत्नी सहित संग कन्याकूँ लीन्हें ।
नारद आज्ञा मानि, बिन्दु सर नृप चलि दीन्हें ॥
जहँ कदम्ब, चम्पक, बकुल, कुटज, कुन्द, मंदार नग ।
पहुँचे मुनि आश्रम निकट, चहुँदिशि कूजहिं वृन्द खग ॥

संसार में अधिकांश विषय ऐसे हैं, जो अनुमान से जाने और समझे जा सकते हैं। कवि, व्युत्पन्नमति और विशाल

---

* मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"हे सुन्दर धनुर्धर विदुरजी ! इधर महाराज मनु भी अपने सुवर्ण जटित रथ पर स्त्री सहित अपनी कन्या को बिठाकर, पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए शान्त मूर्ति-महर्षि कर्दमजी के आश्रम पर उसी दिन पहुँच गये, जिस दिन के लिये भगवान् कह गये थे।"

बुद्धि वाले होते हैं। जिन विषयों को लोग जीवन भर उनके सम्पर्क में रहते हुए नहीं समझ सकते, उन्हें कवि अनुमान के ही द्वारा समझ लेता है। तभी तो कहा है "जहाँ न रवि तहाँ पहुँचे कवि।" किन्तु कुछ ऐसे विषय हैं, जो अनुभव के बिना जाने ही नहीं जा सकते! बिना अनुभव के उनका वर्णन करना अनधिकार चेष्टा है। सगाई हो जाने के अनन्तर विवाह की तिथि निश्चित हो जाने पर, प्राप्त वयस्क वर और वधू के हृदय में जो उत्कण्ठा होती है, इसका अनुभव उनके बिना कोई कर ही नहीं सकता जिनके जीवन में ऐसा अवसर कभी आया न हो।

मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुर! भगवान् तो कर्दमजी को वर देकर चले गये। अब कर्दम मुनि अपने आश्रम में अकेले रह गये। 'मनीराम' ने अब अपनी दौड़ लगानी आरंभ कर दी। आज मङ्गल है, बुध का दिन बीच में है, बृहस्पति को तो राजा आ ही जायँगे। उसी दिन शुभ मुहूर्त है, विवाह हो जायगा। भगवान् के वचन कभी असत्य तो होने के नहीं! राजा रथ पर चढ़कर आवेंगे। अपने यहाँ तो उनके स्वागत सत्कार का भी कोई प्रवन्ध नहीं। कल से ही बहुत कन्द, मूल, फलों को मैं जुटाऊँगा। भगवान्, उन सम्राट की पुत्री की प्रशंसा करते थे। लक्ष्मीजी से उसकी उपमा दे रहे थे। अब तक तो वह सुख में पली है, महलों में रही है, सहस्रों दास-दासी सदा सेवा में उपस्थित रही हैं। अब उसे यहाँ वन में रहना पड़ेगा। उसका मन इस बीहड़-वन में कैसे लगेगा? हाँ, यदि वह प्रकृतिप्रिया हो, प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासिका हो, तब तो यहाँ उसके मन लगने की बहुत-सी सामग्रियाँ हैं। यहाँ का वन कितना सघन है, नन्दन कानन के सदृश सभी ऋतुओं में फलने वाले यहाँ असंख्यों वृक्ष हैं। देखो ये कदम्ब के कितने पुनीत-पादप हैं, इनके फूलों

पर परागयुक्त कैसे कमनीय-काँटे से हैं। भ्रमर जब इन पर बैठ जाते हैं तो ऐसे लगते हैं, मानों सुवर्ण कन्दुक के ऊपर नीलमणि रखी हो। चम्पा की कितनी सघन लता है, इसके पुष्पों में कितनी मोहक गंध है! भ्रमर इनके पास भी नहीं फटकते, जिस प्रकार परम पुण्यात्मा तेजस्वी पुरुष के सम्मुख पापी जाने में डरता है। इन अशोक के वृक्षों के कितने चिकने-चिकने नूतन पल्लव हैं, इनका अशोक नाम सार्थक है। इनके नीचे बैठने से किसी प्रकार का शोक रहता ही नहीं। प्रथम बार जब अशोक का वृक्ष फूलता है, तो ऐसा ही लगता है, मानों परम पुण्यात्मा गृहस्थ अपने अनेकों पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रों से घिरा हुआ मुदित मन सुशोभित होता है।

यह मौलश्री भी कितनी दर्शनीय है। इसके पुष्पों की गन्ध कितनी भीनी-भीनी मन्द और हृदय को आह्लादित करने वाली है। बहुत से पुष्पों के गिर जाने से इसके नीचे की पृथ्वी उसी प्रकार शोभित है, मानों किसी ने वन विहार के समय कुञ्ज में पुष्प शैया का निर्माण किया हो। कुन्द और मन्दार के पुष्पों से दशों-दिशायें सुवासित बन जाती हैं। कुटज की कैसी तीक्ष्ण गन्ध है, जो इन सबसे निराली है। माधवी की कुञ्जों मे बैठने मे आकाश छिद्र जैसा दिखायी देता है। मालती के पुष्प, लता से उसी प्रकार गिरते रहते हैं जिस प्रकार वनिता की वेणी खुल जाने पर उसमें की माला के सुमन गिरते हैं। भिन्न-भिन्न रङ्गों के पाटल, लताओं पर उसी प्रकार सुशोभित होते हैं, जिस प्रकार धूर्त-पुरुषों की सेवा से प्रसन्न होकर उनके वश में हुए सन्त पुरुष!

इन वृक्षों के आश्रय में भाँति-भाँति के पक्षी उसी प्रकार प्रसन्न होते हैं, जिस प्रकार सज्जन-राजा के आश्रय गुणी, कला-कार, पंडित-पुरुष सुखपूर्वक रहते हैं। फूले हुए पुष्पों के ऊपर

मँडराते हुए मत्त-मधुप उसी प्रकार शोभित होते हैं, जिस प्रकार उद्यानों में मनोरंजन करते हुए कामी पुरुष किसी कमनीय-कामिनी को देखकर उसके चारों ओर चक्कर काटते रहते हैं। मेघों को देखकर उन्मत्त-मयूर उसी प्रकार नृत्य करने लगते हैं जिस प्रकार राजा के आने पर नट नर्तक प्रसन्नता से नाचते हैं। वसन्त के आगमन पर कोकिल अपने कमनीय कलकण्ठ से उसी प्रकार मधुर तान छेड़ती है, जिस प्रकार परदेश से पति के लौटने पर उसे प्रसन्न करने को गुणवती सती-साध्वी गीत गाती है। इन पक्षियों के सुन्दर शब्दों से यह वन सदा गूँजता हुआ-सा प्रतीत होता है। यहाँ अवश्य ही मनु-पुत्री देवहूति का मन लग जायगा। वह इन वृक्षों की छाया में बैठा करेगी। पक्षियों के शावकों के साथ क्रीड़ा किया करेगी। यहाँ जंगली पशु भी बहुत हैं। कैसे भोले-भाले हरिन हैं ? उनकी आँखों में अपनी आँखें भिड़ाकर वह उन्हें प्यार करेगी। नीलगायें कितनी सीधी हैं ? उन्हें पकड़-कर खेलेगी। लंगूर-बन्दरों से उसका अवश्य ही मनोरंजन होगा। यद्यपि सूअर, सिंह, व्याघ्र, हाथी, चीते—ये क्रूर और घात करने वाले जीव हैं, किन्तु मेरे तप के प्रभाव से ये भी अपने स्वभाव को छोड़कर यहाँ पालतू हरिन की भाँति ही बैठे रहते हैं, किसी से बोलते चालते नहीं। मनु-पुत्री उनके साथ विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ किया करेगी, उन्हें प्यार दुलार करेगी। इस प्रकार उसका मन यहाँ लग जायगा।

वन में यदि चित्त ऊब जायगा, तो इस बिन्दु सर के समीप जाकर बैठा करेगी। कैसा आरोग्यप्रद, अमृत के समान सुन्दर शीतल, सुस्वादु जल है इस सरोवर का। भगवान के प्रेमाश्रु-बिन्दु से कितना मनोरम यह तीर्थ बन गया है। भगवती सरस्वती के जल से घिरा हुआ परमरम्य-तालाब दुखी-पुरुषों को भी सुखी करने वाला है। इसके चारों ओर इतने हरे-भरे सघन वृक्ष

हैं, उनकी शीतल छाया में बैठकर वायु से हिलती हुई वारि-वीथियों को जब वह देखेगी तो राजमहलों को भूल जायगी। जल में ये रंग-बिरंगी मछलियाँ कमल की कलियों को कम्पित करती हुई इधर से उधर फुदकती हुई कितनी भली मालूम पड़ती हैं। पशु पक्षी इसके पुण्य पय को पीकर कितने प्रमुदित होते हैं। यह पुष्करिणी अवश्य ही राजपुत्री का मनोरंजन कर सकेगी। ये हंस, सारस, चक्रवाक, चकोर, बगुला, जलकुक्कुट, कुरर, बतक, जल-कौए तथा अन्य भी अनेक प्रकार के जल-पक्षियों से शोभित यह सरोवर सम्राट् के विविध रत्नों से भरे कोष के सदृश सुन्दर और चित्त को सन्तोष देने वाला है। नक्र, घड़ियाल, मगर आदि इसके भीतर उसी प्रकार रहते हैं, जिस प्रकार भीतर दम्भ छिपा रहता है। कमल के पत्तों को यह स्वच्छ मरकत के सदृश जल उसी प्रकार अपने उदर के भीतर नहीं छिपा सकता, जिस प्रकार स्त्रियाँ किसी गुप्त बात को नहीं छिपा सकतीं। भगवान् के नेत्र विन्दु से निर्मित हुआ नीले रंग के स्वच्छ जल से पूर्ण कैसा नयनाभिराम यह सुखकर सरोवर है। मेरी प्रिया जब इसके किनारे के कुञ्जों में विहार करेगी, तो वह राजधानी के सुखों को भूल जायगी। नगर में स्त्री पुरुष और पालतू पशुओं का बाहुल्य होता है। यहाँ वन में उनके स्थानों में वृक्षलता, जंगली जीवों का बाहुल्य है। ये सब भी प्रेम करते हैं। इनसे जिनका सम्बन्ध हो जाता है उन्हें संसारी लोगों की अपेक्षा नहीं रहती।

आज तो अब सूर्य अस्त होने ही वाले हैं, कल का ही दिन बीच में समझो। परसों तो राजा आ ही जायँगे। अभी से कुछ तैयारियाँ करनी चाहिये, जिससे राजा-रानी आश्रम को देखकर प्रसन्न हो जायँ। राजपुत्री का भी मन उदास न होने पावे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार मुनिवर उसी

विषय का ऊहापोह करते रहे। रात्रि में उन्हें नींद भी नहीं आई। प्रातःकाल हुआ, शीघ्रता से उठकर उन्होंने आश्रम को झाड़ा बुहारा। शीघ्रता से ही नित्य कर्मों से निवृत्त होकर वे आश्रम को सजाने लगे। उन्होंने सूत लगाकर एक कुटी तक चौड़ी सड़क बनाई। उसके किनारे-किनारे कंकड़ लाकर रख दिये। जिधर बाँसों का वन था, उधर से ही एक सुन्दर द्वार बनाया। रसालों के ऊपर जो मालती की लताएँ चढ़ी हुई थीं उन्हें भली प्रकार बाँध दिया। पुरानी सूखी लकड़ियाँ तोड़ दीं। आज दिन भर मुनि इसी कार्य में लगे रहे। माता, पिता या भाई बन्धु होते, तो विवाह की तैयारियाँ करते, मुनि को स्वतः ही सब साज-सामान जुटाना पड़ा। मन में बड़ा उत्साह था। प्रतीक्षा की घड़ियाँ बहुत लम्बी हो जाती हैं, इसलिये वे दिन भर काम करते हुए मन को फँसाये रहे। जैसे-तैसे वह दिन भी कट गया। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता था, मुनि का उत्साह त्यों-त्यों बढ़ता जाता था। आज की रात्रि उन्हें बहुत भारी लगी। दश हजार वर्षों में इतनी लम्बी एक भी रात्रि नहीं थी। तारों को गिनते-गिनते वह रात्रि उन्होंने काटी। प्रातःकाल कोकिल कुहू कुहू करके बोल उठी। वासन्ती, शीतलमन्द सुगन्धित समीर नये उत्साह के साथ मुनि को बधाई देने आया। आम की मंजरी की भीनी-भीनी सुगन्ध लेकर समीर ने मुनि के नासिका-छिद्रों द्वारा हृदय में प्रवेश किया। कोकिल की कूज से कर्दम मुनि की हृतन्त्री के तार झंकृत हो उठे। वे अरुणोदय के पूर्व ही उठ गये। भगवान्-भुवनभास्कर अभी प्राची दिशि की अरुण साड़ी में मुँह छिपाये सो रहे थे। अरुण-अम्बर से ढकी हुई मदमाती प्राची, पति के भावी वियोग का स्मरण करके म्लान वदना बनी हुई थी। मुनि को आज अत्यन्त शीघ्रता थी। सरस्वती के स्वच्छ सलिल में स्वभावानुसार, वेद मन्त्रों को पढ़ते हुए उन्होंने

स्नान तर्पण किया। अग्निशाला में अग्नि को प्रज्वलित करके विधिवत् हवन किया। कुछ नियम पूर्ति के लिये साधारण-सा जप करके वे अपने आसन पर बैठ गये। रात्रि में ही उन्होंने गौ के गोबर से समस्त आश्रम लीप दिया था। अग्निहोत्र के सुगन्धित धूम्र ने समस्त आश्रम को सुगन्धित बना रखा था। भगवान्-मरीचिमाली ने अपनी सहस्र रश्मियों के द्वारा हँसते हुए मुनि के आश्रम में प्रवेश किया। उनके उदित होते ही लज्जावती बहू के समान निशादेवी भाग गई। लिपा पुता-आश्रम बाल-सूर्य के प्रकाश से जगमग-जगमग करने लगा। समस्त मंगलों ने स्वतः आकर ऋषि के कार्य में सहयोग दिया। नारायण की प्रिया श्री ने आकर आश्रम में अपनी कान्ति छिटका दी। मुनि, आज स्वतः ही आश्रम की शोभा को देखकर विमुग्ध हो रहे थे।

विधिवत् भस्म धारण करके हाथ मे माला लिये मुनि जप कर रहे थे। आज के जप का भार हाथ और जिह्वा को ही दे रखा था। मन तो आज महाराज स्वायंभुवमनु के रथ की खोज में गया था। तनिक सी पत्तों की खड़खड़ाहट सुनायी देती, मुनि चौंक पड़ते और उधर ही देखने लगते।

इधर जब स्वायंभुवमनु को उपदेश देकर नारद मुनि चले गये, तो रानी ने कन्यादान के सभी संभारों को एकत्रित करके यथा स्थान रखा। देवहूति का मन हर्ष शोक के बीच में झोंके से खाने लगा। हर्ष तो था अपने प्राणनाथ स्वामी के साथ संयोग का और शोक था पुरजन और परिजनों के साथ वियोग का। उसकी बहिनें तथा सखियाँ आ-आकर उसे बधाइयाँ देने लगीं—"जीजी! इतने बड़े तपस्वी की पत्नी बनकर हमें भूल मत जाना तू तो ऋषि पत्नी हो जायगी। देवता, गन्धर्व, ऋषि, मुनि आकर तेरे पैरों पर पड़ा करेंगे, तब हमारी तू काहे को सुधि करेगी? हमें तो फिर पहिचानेगी भी नहीं।"

देवहूति, प्रेम के कोप के स्वर में कहती—"जानें तुम सब अभी से क्या वे सिर पैर की बातें कह रही हो ? 'सूत न कपास कोरिया से लठा ही लठा'। अभी बात न चीत, तुम वैसे ही मन-मोदक खाने लगीं।"

सखियाँ कहतीं—"जीजी ! क्यों हमें बहकाती हो, सूर्य पूर्व में न उदय होकर भले ही पश्चिम में उदय होने लगे, किन्तु नारद जी का वचन कभी झूठा नहीं हो सकता। यों क्यों नहीं कहती, कि अब तुम्हें हमारी बातें अच्छी ही नहीं लगती। तुम कोई दूसरी ही बात सोच रही हो।"

देवहूति कहती—"देखो, भैया ! क्या होता है, भगवान् के ऊपर है। तुम सब तो मुझे प्राणों की तरह प्यारी हो, तुम सब का वियोग मुझे दुखित बना रहा है।" यह कहते-कहते देवहूति के नेत्रों में जल भर आता। सखी सहेली अपने अञ्चल से आँसू पोंछते हुए उसका आलिङ्गन करते हुए कहतीं—"जीजी ! यह लड़की का जन्म ही ऐसा है, जीवन भर क्लेश सहना-दूसरों को क्लेश पहुँचाना। पैदा हों तो-घर भर में उदासी छा जाय। सयानी हों, तो माता-पिता रात्रि-दिन चिन्तित बने रहें। विवाह होकर ससुराल जाते समय सबको रुलाकर जायँ। विधाता ने तो स्त्रियों को रोने को ही बनाया है। पिता, पुत्री को दूसरे के लिये पालता है। जैसे कृपण दूसरों के लिये कष्ट सह कर धन एकत्रित करता है। लड़की सदा घर में थोड़े ही रह सकती है। एक दिन तो उसे पति गृह जाना ही है। भगवान् तेरा मङ्गल करें, तू अपने प्राणनाथ की प्रिया बन सके। पुत्र पुत्रियों से गोद भरे, खूब फले फूले। यही हमारी हार्दिक इच्छा है।" इस प्रकार रात्रि भर यहाँ चर्चा होती रही, देवहूति निरन्तर रोती रही।

प्रातःकाल हुआ। महाराज की आज्ञा से विशाल रथ

सुसज्जित होकर अन्तःपुर की ड्योढ़ी पर खड़ा हो गया। सभी सामान रथ में लदने लगा। महाराज, महारानी से शीघ्रता करने को कह रहे थे। महारानी-शतरूपा अपनी पुत्री को साथ लिये हुए रथ के समीप आईं। बहुत से दास दासी और बहिन तथा सखी सहेलियों से घिरी राजपुत्री-देवहूति रथ के निकट खड़ी हो गई। उसकी आँखों से अपने आप अश्रु बह रहे थे। रोती-रोती वह सबको गले से लगा-लगाकर फूट-फूटकर रो रही थी। सभी का हृदय फट-सा रहा था, महाराज शीघ्रता कर रहे थे। रानी बार-बार कहतीं—"बेटी, यात्रा के समय रोते नहीं हैं। हम सब शीघ्र लौट आवेंगे। इस प्रकार माता के बहुत समझाने पर आँसू बहाते हुए देवहूति रथ में बैठ गई। पीछे से महारानी भी बैठीं। आगे महाराज बैठ गये। सारथी ने रथ हाँक दिया। मेघ के समान घर-घर घोष करते हुए रथ चल पड़ा। सर्वस्व लुटे झुण्ड के समान यहाँ स्त्री, पुरुष, दास-दासी खड़े के खड़े ही रह गये। डबडबाई आँखों से देवहूति अपनी बहिनों और सखी-सहेलियों की ओर देख रही थी। जब रथ राजमहल को पार करके राजपथ पर आ गया, तो उसने अपनी दृष्टि हटाई। आगे पीछे, सहस्रों घुड़सवार चल रहे थे। इस प्रकार अनेक देश, नद-नदियों और नगरों को पार करता हुआ रथ बड़ी शीघ्रता से दौड़ा हुआ जा रहा था। बीच में एक दिन ठहर कर महाराज ने सेना के सभी लोगों को वहीं छोड़ा। वे अकेले ही रथ पर चढ़कर महामुनि-कर्दम के आश्रम की ओर चले।

छोटे-छोटे पर्वतों की श्रेणियों से वह प्रदेश अत्यन्त ही शोभा सम्पन्न प्रतीत होता था। भाँति-भाँति के फल पुष्पों से लदे वृक्षों को देखते हुए महाराज, सरस्वती के तट के समीप महामुनि कर्दम के आश्रम के निकट पहुँच गये। आश्रम से दूर वृक्षों की

छाया में उन्होंने रथ को खड़ा कर दिया और बिना 'पादत्राण' के नंगे पैरों ही–पैदल चलकर–वे मुनि के समीप जाने को प्रस्तुत हुए। आगे-आगे महाराज चल रहे थे उनके पीछे रानी और सबके पीछे देवहूति इधर-उधर देखती हुई चल रही थीं। अत्यन्त सुन्दर आश्रम के दर्शन से उसे बड़ा कुतूहल हो रहा था।

मुनि को पल-पल भारी हो रहा था। वे क्षण-क्षण में उठ-उठकर देखते और सोचते—"इतना समय हो गया, इतनी धूप चढ़ गई अभी मनुजी आये नहीं। आज ही तो गुरुवार है, भगवान् आज के ही लिये तो कह गये थे। भगवान् की बात भला असत्य कैसे हो सकती है? आ रहे होंगे। इस प्रकार वे सोच ही रहे थे—कि, उन्हें रथ की घर घराहट सुनाई दी। मुनि का हृदय बाँसों उछलने लगा। अपनी प्रसन्नता को दबाते हुए मृपापथ में अर्धोन्मीलित दृष्टि से निमग्न हो गये। दूर से ही उन्होंने पुत्री और पत्नी के साथ महाराज–स्वायंभुवमनु को आश्रम की ओर आते हुए देखा। देखते ही बड़े स्नेह और सम्भ्रम के साथ महामुनि कर्दम उठकर खड़े हो गये और गद्-गद्–कण्ठ से अत्यन्त ममत्व प्रदर्शित करते हुए दूर से ही कहने लगे—"ओ हो! धन्यवाद-धन्यवाद!! सुस्वागतम्–सुप्रभातम्! आज हमारा बड़ा अहोभाग्य जो महाराज मनु ने अकस्मात् दर्शन दिये। आज का प्रातःकाल बड़ा ही मंगलमय हुआ।"

इस प्रकार मुनि को स्वागतवचन कहते देखकर महाराज मनु शीघ्रता के साथ दौड़े, उन्होंने पृथ्वी पर लोटकर मुनि के चरण में साष्टाङ्ग-प्रणाम किया। सप्तद्वीप-पति वसुमति के एक छत्र सम्राट् महाराज मनु को इस प्रकार अपने पैरों में पड़ा देखकर मुनि ने उन्हें अपने हाथों से बलपूर्वक उठाया। उनको धूलि झाड़कर बड़े स्नेह से अपने समीप ही सुन्दर तृण के आसन पर बिठाया। इतने में ही पुत्री को लिये हुए महा-

रानी आ पहुँचीं। उन्होंने मुनि के चरणों में प्रणाम किया। माता के प्रणाम कर लेने के अनन्तर लजाती हुई देवहूति ने

अपने वस्त्रों को भली प्रकार सम्हाल कर प्रेम भार से भरित-हृदय को थामकर पृथ्वी में सिर टेककर प्रणाम किया। प्रणाम करने के अनन्तर ज्योंही वह उठी, मुनि की दृष्टि से उनकी

दृष्टि मिल गई, आँखें-चार हुईं, बीच में उसी क्षण लज्जादेवी आ खड़ी हुई। राजपुत्री के पलक गिर गये। वह लजाती हुई अपनी माँ की ओट में छिपकर बैठ गई। न जाने क्यों आज उसके नेत्र द्रोही हो गये थे। वे अंचल की ओट में से बिना प्रयत्न के ही अग्नि के समान दमकते हुए तेजस्वी मुनि के श्रीअंग की ओर अपने आप ही भटक जाते।

मुनि की दृष्टि को बचाकर माता के वस्त्रों की ओट से देवहूति ने देखा, इतनी तपस्या के अनन्तर भी मुनि का शरीर दुर्बल नहीं है, भगवद्-दर्शन से पुनः हृष्ट-पुष्ट हो गये थे। वे ठिगने नहीं हैं, शरीर इकहरा और ऊँचा है। दुग्ध के फेन के समान स्वच्छ, कमलदल के समान विशाल, चन्द्रमा के समान सुन्दर और दर्शनीय उनके दोनों नेत्र बड़े-बड़े हैं। शिर पर पीली-पीली जटाओं का मुकुट ऐसा शोभा दे रहा है मानों साक्षात् शिवजी ही विराजमान हों! कमर में एक वल्कल वस्त्र लिपटा हुआ है, सम्पूर्ण श्रीअंग पर भस्म लगी हुई है, उसमें से कान्ति उसी प्रकार फूट-फूट कर निकल रही थी, जैसे तत्काल खानि में से निकली हुई परममूल्यवान् बिना सान पर चढ़ी महामणि मलिन होने पर भी दमक रही हो! देवहूति ने अपना सर्वस्व उनके चरणों में अर्पण कर दिया।

महामुनि कर्दम ने पहिले गन्ध, अक्षत, पुष्प और कुशाओं से मिश्रित अर्घ्य महाराज को दिया। जल, फल, कन्द मूल तथा और भी अन्य सामग्रियों से उनका यथोचित सत्कार किया। मुनि की दी हुई शास्त्रीय पूजा को शास्त्रीय ढंग से ही स्वीकार करके महाराज ने उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की। इसके अनन्तर ऋषि ने महाराज के राज्य की, कोष की, सेना और मंत्री, आत्मीयों तथा परिवार की कुशल पूछी। अपनी कुशल बताकर महाराज ने भी मुनि से उत्कृष्ट—तपकी, अग्निहोत्र की

अग्नि-वृक्षों की कुशल पूछी। दोनों ओर से कुशल प्रश्न होने के अनन्तर अब महामुनि कर्दम जी शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए उनके आगमन का कारण पूछने की भूमिका बाँधने लगे।

छप्पय

आवत देखे भूप उठे मुनि स्वागत कीन्हों।
वर आसन बैठाय अर्घ्य विधिवत पुनि दीन्हों॥
भावी पतिकूँ कुँवरि ओटते निरखे पुनि पुनि।
दृष्टि बचाय तरेरि नेत्र लखि लेहिं कबहुँ मुनि॥
चीर वसन, सरसिज नयन, जटा मुकुट मुनिवर वदन।
मन्द हँसनि युत मधुर मुख, निरखि कुमरि को लुभ्यो मन॥

कर्दम मुनि से विवाह सम्बन्धी प्रस्ताव

[१५३]

प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसेयं दुहिता मम ।
अन्विच्छति पतिं युक्तं वयःशीलगुणादिभिः ॥१॥
यदा तु भवतः शीलश्रुतरूपवयोगुणान् ।
अशृणोन्नारदादेषा त्वय्यासीत्कृतनिश्चया ॥२॥*

(श्रीभा० ३ स्क० २२ अ० ६, १० श्लो०)

छप्पय

कर्दम पूछें—प्रभो ! कहो कस किरपा कीन्हीं ।
सह परिवार पधारि बड़ाई मोकूँ दीन्हीं ॥
मनु बोले—"मुनिराज ! दयायुत मोहि निहारें ।
चिन्ता सागर मग्न पकरि के हाथ उबारें ॥
परम सुशीला गुणवती, कन्या स्यानी है गई ।
चित चिन्ता निसि दिन यही, ब्याह योग तनया भई ॥

परस्पर के स्वार्थ से ही व्यवहार चलता है । हमें एक वस्तु

---

* महाराज मनु, कर्दम मुनि से कह रहे हैं—"भगवन् ! यह प्रियव्रत और उत्तानपाद की बहिन तथा मेरी पुत्री है । यह अपने समान शील, वय और गुणसम्पन्न पति की इच्छा रखती है । जब से इसने श्रीनारदजी के मुख से आपके शील, ज्ञान, रूप, तप और गुणों की प्रशंसा सुनी है, तभी से आपको ही अपना पति बनाने का निश्चय कर लिया है ।"

को लेने की आवश्यकता है, दूसरे को बेचने की आवश्यकता है—वहाँ सम्बन्ध स्थापित हो जायगा। क्रय, विक्रय, आदान, प्रदान, केवल एक के स्वार्थ में नहीं बन सकते। दोनों का परस्पर में समान स्वार्थ होने पर भी कोई अपना स्वार्थ लेकर जिसके समीप जाता है, उसका पलड़ा भारी होता है। हमें दही की आवश्यकता है, दही बेचने वाले को दही बेचने की आवश्यकता है, यदि पैसा और पात्र लेकर हम स्वयं दही वाले के पास जाते हैं तो वह अकड़ कर कह देता है—"इस भाव में आपको लेना हो तो लीजिये नहीं अपना रास्ता देखिये।" हमें तो लेना ही है, दो बातें सुनकर भी ले लेते हैं। किन्तु जब बेचने वाला स्वयं ही "दही! लो दही!" चिल्लाता हुआ हमारे घर आता है, तो हम आवश्यकता होने पर भी दस बहाने बनाते हैं! "दही तो तुम्हारा अच्छा है नहीं, हमें ऐसी आवश्यकता भी नहीं, यदि तुम्हें देना ही है तो इस भाव से दे जाओ।" कुछ इधर-उधर झुकने से काम चल जाता है तो सौदा हो जाता है नहीं तो बात समाप्त हो जाती है।

महामुनि कर्दम को विवाह करने की प्रबल इच्छा थी। इसी भावना से इतनी घोर तपस्या की थी—भगवान् की आराधना की और उनके प्रसन्न होने पर वरदान में 'गृहमेध धेनु' की ही याचना की। इधर महाराज मनु भी अपनी पुत्री का विवाह करने को व्याकुल हो रहे थे। यदि कोई ऋषि, पुत्री माँगने उनके द्वार पर आता तो वे इधर-उधर की बातें बताते, किन्तु आज तो वे पुत्री को लेकर स्वयं ही उसे दान करने मुनि के आश्रम पर आये हैं, इसी से कर्दमजी का पलड़ा भारी था। मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महामुनि कर्दम सब समझते थे। भगवान् उनको सब बता ही गये थे। वे भली-भाँति जानते थे, कि महाराज मुझे पुत्री प्रदान करने आये हैं। फिर भी अपने—आप पहिले से ही

अशिष्टता पूर्वक इस प्रस्ताव को कैसे करते, अतः अनजान की भाँति वे महाराज मनु से पूछने लगे—"महाराज ! मुझ अकिंचन के आश्रम पर पधारकर सम्राट् ने कृपा की है, आप साक्षात् विष्णु स्वरूप हैं ! क्योंकि भगवान् की पालना-शक्ति के अंश से ही आपका अवतार हुआ है, आपके शरीर में सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, धर्म और वायु सभी की शक्ति विद्यमान है। आपके दर्शन, भगवान् के दर्शनों के समान ही हैं। आप मेरे यहाँ स्नेह वश ही पधारे हैं। फिर यदि आपके पधारने का कोई विशेष कारण हो तो उसे आप मुझसे कहें।"

महाराज मनु तो कुछ सङ्कोच में पड़ गये कि कैसे इनसे कहूँ। तब अपने आप ही मुनि कहने लगे—"अथवा आपके पधारने का प्रयोजन तो प्रत्यक्ष ही है। यदि आप इस प्रकार अपना धनुष धारण करके पृथ्वी पर पर्यटन न करते रहें, तो वर्णाश्रम धर्म की यथावत् व्यवस्थिति कैसे बनी रहे ? शिष्टों का पालन और दुष्टों का दमन आपका प्रधान-कर्तव्य है। आप अपने प्रचण्ड-धनुष की टङ्कार करते हुए इधर से उधर भ्रमण न करें, तो दस्युधर्मी लोग प्रजा को त्रास दें और उनके धन आदि को लूट लें। आप सदा सर्वथा सावधान चित्त से जब प्रजा की देख-रेख और सार-सम्हार करते रहते हैं, तो प्रजा भी सुखी रहती है और अधर्म का ह्रास तथा धर्म की वृद्धि होती है। आप प्रजा के पूजनीय-माननीय और वन्दनीय हैं। यह बड़े मंगल की बात है कि प्रजा के दुःखों को देखते हुए आप मेरे आश्रम पर भी पधारे। मुझे भी अपने देव दुर्लभ दर्शनों से आपने कृतार्थ किया। मैं आपके अनुरूप आपका कुछ स्वागत सत्कार भी नहीं कर सकता।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब मुनि ने इस प्रकार अनजान की भाँति मधुरवाणी में महाराज से बातें की, तब तो

राजा बड़े प्रसन्न हुए और कृतज्ञता प्रकट करते हुए बोले—"भगवन्! ऐसे प्रेम पूर्ण सारगर्भित वचन आपके अनुरूप ही हैं। हम और आप यद्यपि दोनों ही ब्रह्माजी के द्वारा उत्पन्न हुए हैं, किन्तु आपकी उत्पत्ति उनके मुख से हुई है और हमारी बाहुओं से। आप मुख से उत्पन्न होने के कारण मुख्य तथा श्रेष्ठ हैं। आप विषयों से अनासक्त, तप, विद्या और योग से सम्पन्न सर्वथा मोक्ष धर्म का अवलम्बन करने वाले ब्राह्मण कहलाते हैं। आपका तप, स्वाध्याय निर्विघ्न होता रहे, कोई आपको क्लेश न पहुँचा सके, इसके लिये आपकी सेवा करने तथा प्रजाओं का पालन करने के लिये ब्रह्माजी ने हम क्षत्रियों को उत्पन्न किया। इसलिए प्रजा का पालन करना तो हमारा धर्म ही है। आपके चरणों की शरण में जाकर शिक्षा ग्रहण करना तो हमारा प्रधान कार्य ही है। आपने बड़े कौशल से मेरी प्रशंसा की जिसमें मुझे राजधर्म का उपदेश दिया। राजा को क्या करना चाहिये, किस प्रकार बर्ताव करना चाहिये इस बात की शिक्षा दी। रही प्रजा की रक्षा की बात, सो हम प्रजा की क्या रक्षा कर सकते हैं रक्षा करने कराने वाले तो वे ही श्रीहरि हैं।"

मुनि ने कहा—"राजन्! आप उन्हीं श्रीभगवान् की श्रेष्ठ-विभूति हैं। आपके दर्शनों से परमपुण्य होता है।"

महाराज मनु के कहा—"महाराज! हम तो आपके सेवक हैं, द्वारपाल हैं। अपने को कृतकृत्य करने आपके चरणों के निकट आये हैं। सब किसी को आपके दर्शन होते भी नहीं, जिनके अनेक जन्मों के पुण्य उदय होते हैं उन बड़भागियों को ही आपके दर्शन हो सकते हैं। आज मेरा बड़ा सौभाग्य है जो आपके दर्शन कर रहा हूँ। मैं प्रजापालन के कार्य से इस समय आपके चरणों में उपस्थित नहीं हुआ इस समय तो मैं एक

विशेष प्रयोजन से आपकी सेवा में आया हूँ किन्तु उसे कहने में मुझे सङ्कोच हो रहा है।"

बड़े स्नेह से मुनि ने कहा—"राजन्! सङ्कोच की क्या बात? अपने लोगों से कहीं सङ्कोच किया जाता है? आप निःसङ्कोच होकर मेरे योग्य जो कार्य हो उसकी आज्ञा दें। मेरा यह बड़ा सौभाग्य होगा, जो आपकी सेवा करने का सुयोग प्राप्त कर सकूँ।"

मनुजी बोले—"प्रभो! यह मेरी देवहूति नाम वाली परम सुशीला कन्या है। इस समय यह विवाह के योग्य हो गई है। महाराज! पिता की यह हार्दिक इच्छा रहती है कि मेरी पुत्री को योग्य वर मिले। सयानी-पुत्री के विवाह की चिन्ता से बढ़कर माता-पिता के लिये दूसरी इतनी बड़ी चिन्ता कोई है ही नहीं। इसी चिन्ता से मेरा चित्त अत्यन्त दीन हो गया है, मुझे सोते-जागते सदा इसी की चिन्ता लगी रहती है। इसके अनुरूप पति मिल जाय तो मैं एक बहुत बड़ी चिन्ता से मुक्त हो जाऊँ।"

मुनि कुछ निस्पृहता प्रदर्शित करते हुए बोले—"राजन्! आप सत्य कहते हैं, पुत्री, माता-पिता की आत्मा ही होती है। माता-पिता सदा उसे सुखी देखना ही चाहते हैं। आपके कितनी संतानें हैं?"

महाराज मनु को कुछ आशा हुई, कि मुनि सब बातें जानना चाहते हैं। शास्त्रकारों ने उस कन्या की प्रशंसा नहीं की है जिसके भाई न हो, ऐसी कन्या के साथ विवाह कर लें तो साला कहने को कोई नहीं रहता। यह सम्बन्ध इतना सुखद है कि इसमे कहनी-अनकहनी सभी बातें कही जा सकती हैं। कहीं मुनि यह न समझें कि इसके भाई नहीं है। यही सोचकर मनुजी बोले—"आपकी दया से मेरे दो पुत्र और तीन पुत्रियाँ हैं। प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो बड़े पुत्र हैं तथा आकूति, देवहूति और

प्रसूति ये तीन कन्यायें हैं। इसका नाम देवहूति है। निरन्तर भगवान् के ही ध्यान में लगी रहती है। क्रोध करना तो यह जानती ही नहीं, घर भर में सबकी सेवा करती है।" मुनि ने कन खियों से देवहूति की ओर देखा। वह एकटक मुनि के लावण्य युक्त मुखमंडल को ही आँचल की ओट से निहार रही थी। आँखें चार होते ही दृष्टि, से दृष्टि मिलते ही राजपुत्री के पलक नीचे गिर गये और वह भूमि की ओर देखने लगी। अपने को सम्हाल कर मुनि बोले—"महाराज! आप बड़े भाग्यशाली हैं जो ऐसी सर्वगुण सम्पन्ना आपकी सन्तानें हैं। आपने इस बच्ची के लिये कोई योग्य वर तो खोज ही लिया होगा?"

इस प्रश्न को सुनकर देवहूति का मुख तो उदास-सा हो गया, उसे शंका सी होने लगी। मुनि तो बड़ी निस्पृहता से बातें कर रहे हैं। इनकी बातों में विवाह करने की इच्छा तो झलकती नहीं! पिता अपनी पुत्री के भाव को समझ गये और अत्यन्त ही विनीत भाव से बोले—"भगवन्! अभी तक तो मुझे कोई इसके योग्य वर दिखाई दिया नहीं। हाँ, भगवान् नारद के मुख से आपके रूप, शील, स्वभाव और सौन्दर्य आदि गुणों की प्रशसा सुनकर पहिले से ही इसके मन में यह आकांक्षा हो गई है, कि "मैं आपके ही चरणों की किङ्करी बनूँ।" महाराज! मुझे तो ऐसा निवेदन करने में बड़ा संकोच हो रहा है, किन्तु इस बच्ची का बहुत आग्रह है। इसीलिये मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।" अपने पिता के मुख से ऐसी बात सुनकर देवहूति लज्जा के कारण अत्यन्त ही सकुचाती हुई, गुड़मुड़ी-सी हुई पृथ्वी की ओर देखने लगी। उसके हृदय में विचित्र कुतूहल हो रहा था।

मुनि उसके भाव को ताड़ गये और बड़े धैर्य से अपने को सम्हालकर बोले—"महाराज! आप कैसी बातें कर रहे हैं?

कहाँ हम वनवासी मुनि, कहाँ राजोचित-सुखों का उपभोग करने वाली आपकी यह प्यारी दुलारी पुत्री ? मेरी ऐसी सामर्थ्य कहाँ, जो आपकी पुत्री को प्रसन्न रख सकूँ ?"

महाराज मनु बोले—"भगवन् ! आप इस बात की तो चिंता करें नहीं ! राजमहलों में रहकर भी यह सदा विषय भोगों से निस्पृह ही बनी रहती है। यदि आप कृपा करके मेरी इस कन्या को स्वीकार कर लें, तो यह आपकी सब प्रकार से सेवा करेगी और आपके आश्रम के सभी कार्यों को स्वयं सम्हाल लेगी। गृहस्थोचित सभी झंझटों से आप मुक्त हो जायँगे।"

साहित्य में एक 'स्थूणाखनन न्याय' होता है। जैसे—एक खूँटे को गाड़ते हैं, गाड़ने के अनन्तर उसे हिलाते हैं, फिर गाड़ते हैं। हिलाने से तात्पर्य उखाड़ना नहीं है। बार-बार हिला हिलाकर यह देखते हैं, कि यह दृढ़ता के साथ गड़ा है या नहीं। यहाँ हिलाने से प्रयोजन उसे दृढ़तर और गाड़ने से है। इसी प्रकार मुनि जो बार-बार निस्पृहता दिखा रहे हैं, उससे उनका प्रयोजन विवाह के निषेध में नहीं है, उस बात को और दृढ़तर बनाने में है। अतः वे बोले—"राजन् ! यह सत्य है, आपकी पुत्री बड़ी सुशीला है, धर्मपरायणा है, सेवा करने में दक्ष है, फिर भी महाराज ! हम तो तपस्वी ही ठहरे। तपस्या में और पत्नी में तो बड़ा विरोध होता है।"

देवहूति का मुख तो फक्क पड़ गया। अरे, यह तो मुनि ने स्पष्ट कह दिया, दो टूक उत्तर दे दिया, क्या मुझे यहाँ से निराश होकर जाना पड़ेगा। लौटकर जाऊँगी, तो मेरी सखी सहेलियाँ क्या कहेंगी ? नारदजी के वचन भी अन्यथा हो सकते हैं क्या ? भाग्य की रेखायें भी मिट सकती हैं ? क्या ? किन्तु मुनि तो बिना लगाव लपेट के बातें कर रहे हैं। यह विचार आते ही उसका सम्पूर्ण अंग शिथिल हो गया। वह गिरना ही चाहती थी, कि

माताजी के सहारे से सम्हल गईं। सम्पूर्ण शरीर में पसीना आ गया।

महाराज मनु ने गम्भीर वाणी से राजकीय स्वर से कहना आरम्भ किया—"मुनिवर देखिये, मैं श्रद्धापूर्वक इस लड़की को लेकर आपके समीप आया हूँ। मैं कभी भी ऐसा साहस न करता, यदि मुझसे नारदजी न कहते तो। मैंने सुना है कि आपने नैष्ठिक-ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा ग्रहण नहीं की है। आप उपकुर्वाण-ब्रह्मचारी हैं। आपकी इच्छा ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त करके गृहस्थाश्रम ग्रहण करने की है। यदि यह बात यथार्थ है, तो आप को मेरी बात मान लेनी चाहिये।"

चाहे कितना भी त्यागी क्यों न हो, कोई श्रद्धा से उसके उपयोगी वस्तु लाया हो तो अपने त्याग के घमण्ड में उसका तिरस्कार न करना चाहिये। उसकी प्रसन्नता के लिये ही उसे ग्रहण कर लेना चाहिए। अपने काम में न भी आवे, तो उसके चले जाने पर किसी को दे देनी चाहिये या उसे ही प्रसाद रूप में यह कहकर कि हमारी समझकर आप इसे ग्रहण करें–लौटा देनी चाहिये। यह बात तो परम त्यागियों के सम्बन्ध में है। किन्तु जिन्हें कामना है, इच्छा है और इच्छित वस्तु कोई श्रद्धा सहित लाकर देता है,तो उसे तो प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण करही लेनी चाहिये। जो ऐसा नहीं करता, अपना त्याग-वैराग्य जताने को श्रद्धा से लायी हुई वस्तु का तिरस्कार करता है, उसे ठुकराता है, तो उस लानेवाले का हृदय दुखी होता है,उसका शाप उसे लगता है। ठुकराने वाले की इच्छा और प्रबल होती है, फिर वह उसी वस्तु की अन्य लोगों से याचना करता है। जिनसे माँगता है, उनमें बहुत से कृपण भी होते हैं वे देते नहीं, तिरस्कार करते हैं, उसकी निन्दा करते हैं! ऐसा करने से उसका यश नष्ट हो जाता है, कीर्ति मलिन हो जाती है। अतः श्रद्धा से स्वतः आई अपनी

इच्छित वस्तु की कभी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। लाने वाले का तिरस्कार न करना चाहिये, यही शास्त्रीय नीति है। कुमारी कन्या के लिये तो सहस्रों पति हैं, एक से ठीक न हुआ दूसरे से बातें कीं। विवाह हो जाने पर अमिट-सम्बन्ध होता है।

केवल भगवान् नारदजी की आज्ञा से ही मैंने आपसे ऐसा प्रस्ताव करने का साहस भी किया। यदि आपकी इच्छा नहीं है तब कोई बात नहीं। मैं कहीं दूसरे स्थान पर खोज करूँगा।"

अपने पिता की ऐसी स्पष्ट बातें सुनकर देवहूतिजी तो डर गई। पिताजी ने यहाँ भी अपनी तेजस्विता दिखाई। मुनि करना भी चाहते हों तो इस बात को सुनकर न करेंगे। वह मन ही मन भयभीत हो रही थी।

इधर महामुनि कर्दम ने सोचा—"अब तो बात नीरस होना चाहती है इसलिये बड़े ही स्नेह के साथ बोले—"नहीं-नहीं राजन्! मेरा अभिप्राय यह नहीं था। भगवान् नारद ने जो कुछ आपसे कहा था, सब सत्य ही कहा था, हाँ, मैं विवाह करना चाहता हूँ, मैं उपकुर्वाण-ब्रह्मचारी ही हूँ, किन्तु मैंने जो आपसे ये बातें कहीं वे इसलिये कि कहीं आपकी कन्या को कष्ट न हो? नहीं तो भला सप्तद्वीपा—वसुमति के एकछत्र शासक महाराज स्वायंभुवमनु की पुत्री, प्रियव्रत और उत्तानपाद की भगिनी जो रूप, गुण, सौन्दर्य में संसार में अद्वितीया है उसके साथ विवाह करने में अपना सौभाग्य कौन न समझेगा? किन्तु महाराज! एक बात आप और सोच लें।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए महाराज मनु बोले—"वह कौन-सी बात है? उसे भी बताइये?"

मुनि कुछ दृढ़ता के स्वर में बोले—"महाराज? मैं विवाह तो करूँगा, किन्तु तभी तक मैं गृहस्थी में आपकी पुत्री के साथ रहूँगा जब तक इससे कोई सन्तान न हो। सन्तान के हो जाने

पर मैं, सर्वसङ्ग-विनिर्मुक्त होकर, शमदमादि हिंसा रहित धर्मों का आचरण करता हुआ, न्यस्तदण्ड होकर संन्यास धर्म का पालन करने लगूँगा। मैं फिर अनन्य भाव से उन सर्वेश्वर अनन्त भगवान् की उपासना में लीन हो जाऊँगा।"

इस प्रकार मुनि के मुख से ये वचन सुनकर महाराज मनु को बड़ा हर्ष हुआ। महारानी शतरूपा को भी बड़ी हार्दिक प्रसन्नता हुई। देवहूति का मुख जो अभी तक मुरझाया हुआ था—अपने पिता और मुनि की बातों से जो उसके हृदय में शंकारूपी बवंडर उठ रहा था—वह शान्त हुआ। मुख, शरदकालीन चन्द्रमा के समान खिल गया। जिस प्रकार चकोरी चन्द्रमा को एकटक भाव से निहारती है, उसी प्रकार वह मुनि के मुख-चन्द्र को निहारती की निहारती ही रह गई।

महाराज मनु ने देखा, बानक बन गया। मुनि ने हृदय से विवाह की स्वीकृति दे दी। मेरी पत्नी भी इस सम्बन्ध से सन्तुष्ट है और पुत्री की भी पूर्णरूप से सम्मति है, तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे अब वैदिक-विधि से विवाह करने की तैयारियाँ करने लगे।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! अब जंगल में मंगल होने लगे। अद्वैत से द्वैत की सृष्टि होने लगी—एक ने बहुत्व-में स्थित होने का उद्योग किया।"

छप्पय

मुनि नारद तें सुनी गृहस्थाश्रम कूँ भगवन्।
स्वीकारेंगे यही सोचि आयो तब चरनन॥
कन्या तव अनुरूप जाहि मुनिवर स्वीकारें।
पुत्री चिन्ता उदधि मग्न मोहि नाथ उबारें॥
मुनि बोले इच्छा हती, पर झंझट तें हौं डरूँ।
तनया लै आये स्वयं, फिरि नाहीं कैसे करूँ॥

——

देवहूति का कर्दम मुनि के साथ विवाह

(१५४)

सोऽनु ज्ञात्वा व्यवसितं महिष्या दुहितुःस्फुटम् ।
तस्मै गुणगणाढ्याय ददौ तुल्यां प्रहर्षितः ॥
शतरूपा महाराज्ञी पारिबर्हान्महाधनान् ।
दम्पत्योः पर्यदात्प्रीत्या भूषावासः परिच्छदान् ॥*

(श्री भा० ३ स्क० २२ अ० २२, २३ श्लो०)

छप्पय

कपट रहित मुनि वचन सुने नृप मुदित भये अति ।
देवहूति मुख कमल खिल्यो समुझी मनु अनुमति ॥
सबकी सम्मति समुझि ब्याह की विधि सब कीन्हीं ।
राजा रानी हरषि सुता मुनिवर कों दीन्हीं ॥
दूल्हा दुलहिन मिलि गये, जंगल महँ मंगल भयो ।
कनक अँगूठी जस सुघड़, तस सुन्दर नग जड़ि गयो ॥

---

* मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी ! जब महाराज मनु ने समझ लिया कि इस सम्बन्ध में मेरी पत्नी, पुत्री दोनों की ही स्पष्ट अनुमति है, तब उन्होंने सर्वगुणसम्पन्न भगवान् कर्दम के साथ उनके अनुरूप ही गुणवाली अपनी पुत्री का विवाह प्रसन्नतापूर्वक कर दिया। उस समय महारानी शतरूपा ने अपनी पुत्री और जामाता को प्रीतिपूर्वक बहुत से बहुमूल्य वस्त्राभूषण तथा गृहस्थोपयोगी और बहुत सामग्रियाँ दीं।"

शास्त्रकारों ने उस कुमारी को कन्या कहा है, जिसे अभी विवाह की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। ऐसी कन्या का शास्त्रीय विधि से दान करने को ही कन्या-दान कहते हैं। जिस कुमारी ने बाल्यावस्था को पार करके यौवनावस्था में प्रवेश कर लिया है और जिसे विवाह की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है, उसे ऋषियों ने विवाह कहा है। विवाह के भी ब्राह्मविवाह, गन्धर्वविवाह, राक्षसविवाह, पैशाचविवाह आदि अनेक भेद होते हैं। कन्यादान में माता-पिता ही जिसे चाहें दान कर दें, उसमें कन्या की सम्मति की अपेक्षा नहीं होती। इसीलिये कहावत है, "गौ को और कन्या को जिसके साथ कर दें उसी के साथ चली जाती है।" विवाह में माता-पिता की इच्छा तो प्रधान होती ही है, क्योंकि कच्ची अवस्था में बालक-बालिका सहसा ऐसे गंभीर विषय का निर्णय करने में समर्थ नहीं होते। वे क्षणिक प्रलोभन में प्रायः फँस जाते हैं। माता-पिता के ऊपर अकारण अविश्वास करना यह महान् अधर्म है, जितना हित वे हमारा कर सकते हैं, उतना कोई दूसरा कर ही नहीं सकता। हमारे कल्याण सुख की सबसे अधिक चिन्ता तो उन्हें ही है। वे जो करेंगे, हमारे हित के ही लिये करेंगे। फिर भी माता-पिता का यह धर्म हो जाता है, कि युवावस्थापन्ना सयानी लड़की की भी आकार प्रकार और चेष्टा से विवाह के पूर्व सम्मति समझ लेनी चाहिये, कि इस सम्बन्ध से वह असन्तुष्ट तो नहीं है। क्योंकि ऐसा हो जाने से भविष्य-जीवन दुःखमय बन जाता है।

देवहूति तो विवाह के योग्य थी। वह ऊँच-नीच सब समझती थी। महाराज मनु तो बातें कर रहे थे कर्दम मुनि से, किन्तु बीच-बीच में अपनी पुत्री के हृद्गत-भावों को जो उसके मुख पर स्पष्ट अंकित होते जाते थे—पढ़ते जाते थे। वे पहिले से ही जानते थे कि नारदजी के मुख से भगवान् कर्दम के रूप, शील,

वय आदि गुणों की चर्चा के कारण मेरी पुत्री का उनकी ओर आकर्षण है ! किन्तु जब उन्होंने देखा, कि मुनि के स्वीकृति देने पर तथा उनके मधुर मुस्कान से शोभित मुख कमल को देखकर देवहूति का हृदय आनन्द से भर गया है और उसका चित्त लुभाने लगा है, तब तो महाराज मनु को बड़ा सन्तोष हुआ। उनकी कन्या-विषयक बड़ी भारी चिन्ता दूर हुई। अपनी पत्नी की भी स्पष्ट सम्मति समझकर, वे विवाह की सामग्री सजाने में स्वयं जुट गये।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! वह प्रथम सत्ययुग के आरम्भ का ही समय था। मनु शतरूपा का विवाह भी हुआ था, किन्तु उसमें साक्षात् ब्रह्माजी की आज्ञा ही प्रधान थी। तब तक विवाह की वैदिक-विधि का प्रसार और प्रचार नहीं हुआ था। वेद के मन्त्रों से अग्नि को साक्षी देकर वर्णाश्रम धर्म की मर्यादानुसार यह प्रथम ही विवाह था। जैसी शास्त्रों में विवाह की विधि बताई है, उसी विधि के अनुसार मन्त्रों द्वारा प्रजापति भगवान् कर्दम का देवी-देवहूति के साथ विवाह हो गया।

इस विवाह से संसार में सर्वत्र आनन्द छा गया। देवताओं ने हर्ष के सहित दुन्दुभी बजाकर वरबधू के ऊपर कल्पवृक्ष के दिव्य-पुष्पों की वर्षा की ! अप्सराओं ने आकर नृत्य किया, गन्धर्वों ने अनेक स्वर मूर्छना के साथ गायन किया, ऋषियों ने सामवेद के मन्त्रों की ध्वनि की। मनु और शतरूपा ने वर-वधू को हृदय से लगाकर प्यार किया। उन्हें भाँति-भाँति से आशीर्वाद दिये।

महारानी शतरूपा जो अनेक-भाँति के रेशमी सूती वस्त्र, विविध भाँति के मणिमाणिक्य, रत्नजटित सुवर्ण के आभूषण तथा और भी गृहस्थाश्रम के उपयोगी वस्तुएँ साथ लायी थीं, वे सब उन्होंने बड़े हर्ष के साथ अपनी कन्या को दीं। इस प्रकार

दोनों का विधिवत् विवाह हो गया। महाराज की चिन्ता दूर हुई, उनके सिर पर से मानों एक बहुत बड़ा भार उतर गया।

अब तो सम्बन्ध दूसरा हो गया, पुत्री के घर पर राजा-रानी पानी कैसे पी सकते हैं, इसलिये अब वे अपनी राजधानी को चलने को तैयार हो गये थे। अब तक तो सबको विवाह की उमंग थी। भावी कार्य के विषय में कुतूहल था। कार्य समाप्त होने पर कुतूहल भी समाप्त हुआ। अब तो कर्तव्य ने कुतूहल का स्थान ग्रहण कर लिया। आज अपनी पुत्री से वियोग होगा, यह विचार आते ही महाराज का हृदय भर आया। जिसे आज तक कितने ममत्व से कितने लाड़-प्यार से पाला था, आज वह परदेशिनी बन जायगी। दूसरे परिवार और दूसरे गोत्र वाली हो जायगी, इसका स्मरण आते ही महाराज की छाती फटने-सी लगी। इधर कभी भी माता-पिता से पृथक् न होने वाली पुत्री अब वनवासिनी हो जायगी! पिता मुझे यहीं छोड़कर चले जायँगे, यह सोच कर देवहूति की आँखों के सामने भी अँधेरा-सा छाने लगा। महाराज जब वर-वधू को आशीर्वाद देकर चलने को उद्यत हुए, कन्या का कोमल हृदय फूट पड़ा। धैर्य का बाँध टूट गया। वह अपने माता-पिता से लिपट गई और ढाह मारकर रुदन करने लगी। महाराज जो अब तक अपने को रोके हुए थे, उनसे भी अब न रहा गया। श्रावण-भादों की वर्षा की धारा के समान उनके नेत्रों से अश्रु बहने लगे, जिससे देवहूति की वेणी, सुन्दर अलकावली और वस्त्र सभी भीग गये। पिता बार-बार उसके सिर पर हाथ फेरते। गद्गद् कण्ठ से भर्राई हुई वाणी में रुक-रुक कर कहते—"बेटी! रोते नहीं हैं। ये मुनि ही अब तेरे सर्वस्व हैं, हम जल्दी बुलावेंगे तुझे।" उसे तो रोने को मना करते और स्वयं रोते जाते थे। पुत्री स्नेह भी कैसा विलक्षण होता है। इधर देवहूति पिता को

छोड़ती ही नहीं थी। रानी ने आकर उसके सिर पर हाथ फेरा। बार-बार पुचकारा—"अरे, बेटी! ऐसे व्याकुल नहीं हुआ करते हैं। लड़कियाँ सदा घर में थोड़े ही रहती हैं, उन्हें तो एक न एक दिन अपने घर जाना ही पड़ता है।"

अब देवहूति पिता को छोड़कर अपनी स्नेहमयी-जननी से लिपट गई और उसके अंचल में अपना मुँह ढाँककर फूट-फूट कर रो रही थी—"अरे अम्मा! यहाँ जंगल में मुझे अकेली कहाँ छोड़े जाती है—मेरी जननी!" माता का हृदय पिघल रहा था। माँ बेटी को इस प्रकार प्रेमपूर्वक रोते देखकर मुनि का भी हृदय भर आया। वे सोचने लगे—"गृहस्थाश्रम में कितने करुणाजनक प्रसङ्ग उपस्थित होते हैं। वे भी चुपचाप नीचा सिर किये हुए खड़े थे, उनकी भी आँखें डबडबाई हुई थीं। अपने सास ससुर को पहुँचाने मुनिवर पत्नी के सहित आश्रम के द्वार तक गये। जब राजा-रानी रथ पर बैठ गये, तब तो देवहूति का धैर्य छूट गया, उसने रथ को कसकर पकड़ लिया, रानी भी रो रही थीं। महाराज ने उतर कर अपनी पुत्री को फिर आलिङ्गन किया—"बेटी! चिन्ता नहीं करते हैं। हम तो अब आते ही जाते रहेंगे।" इस प्रकार समझा बुझाकर महाराज ने रथ चलाने की आज्ञा दे दी। रथ घर-घर शब्द करता हुआ चल पड़ा, उसकी विशाल—ध्वजा वायु के वेग से उसी प्रकार चंचल हो रही थी, जिस प्रकार माता-पिता के वियोगजन्य दुःख से देवहूति का चित्त चंचल हो रहा था।

दोनों पति-पत्नी वायु के वेग से जाते हुए रथ को देखते रहे, कुछ काल में रथ आँखों से ओझल हो गया। उसकी ध्वजा दिखाई देती रही, अब ध्वजा नहीं केवल उड़ती हुई रथ की धूलि दीखने लगी। थोड़ी देर में वह भी विलीन हो गई। खिन्न मन से दोनों अपने आश्रम में लौट आये।

इधर महाराज स्वायंभुवमनु अपनी पत्नी के सहित सरस्वती के किनारे-किनारे मुनियों के सुन्दर पवित्र-आश्रमों को देखते हुए जा रहे थे, जिनमें से अग्निहोत्र का धूम्र निकल रहा था। वल्कलवस्त्र इधर-उधर सूख रहे थे। कटी हुई समिधायें पड़ी थीं। फल और फूलों के वृक्षों से वे आश्रम बड़े ही भले मालूम पड़ते थे।

इस प्रकार पुण्य वन-उपवनों की शोभा निहारते हुए वे अपनी गंगा तट की वर्हिष्मती नामक नगरी के समीप पहुँचे। ब्रह्मवर्त (बिठूर) की प्रजा ने जब अपने महाराज का प्रत्यागमन सुना, तो वह उनके स्वागत के लिये व्यग्रता पूर्वक दौड़ी। महाराज के सत्कार के लिये नगरी चित्र-विचित्र प्रकार से सजाई गई थी। समस्त प्रजा ने उनका हृदय से स्वागत किया और वे अपनी राजधानी में आकर सुखपूर्वक राजकाज करने लगे।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! महाराज मनु की नगरी का नाम वर्हिष्मती क्यों पड़ा ? पृथ्वी में यही भूमि सर्वश्रेष्ठ, सबसे पवित्र और ब्रह्मर्षियों के सेवन करने योग्य क्यों मानी गई ? इसका कारण आप हमें बताइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो ! भगवान्, पृथ्वी को लेकर पाताल से जब आये थे, तो इसी देश में वे पहले-पहल प्रकट हुए। इसलिये इसी प्रान्त में सूकर-क्षेत्र (सोरों-एटा) है। ब्रह्मवर्त (बिठूर) में भगवान् ने फुरहुरी ली-अपने शरीर को कँपाया—इससे उनके बहुत-से रोम झड़ गये। वे रोम ही कुश-काँश रूप में हरे भरे होकर उत्पन्न हो गये। यज्ञ रूप-वाराह भगवान् के रोम से उत्पन्न होने के कारण कुशा बहुत पवित्र मानी जाती हैं और श्राद्ध, यज्ञ आदि देवता, ऋषि तथा पितरों के काम में आती हैं। महाराज मनु ने भी इसी स्थान में कुश-काश की वर्हिष बिछाकर पूजा की थी, इसीलिये इस नगरी का

नाम भी बर्हिष्मती पड़ गया। अब भी उस देश में कुशायें बहुत होती हैं। इसीलिये यह भूमि ब्रह्मर्षियों के द्वारा परम पवित्र और यज्ञादि कार्यों के लिये बहुत पावन मानी गयी है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराज मनु अपना सम्पूर्ण समय कैसे बिताते थे?"

इस पर सूतजी शीघ्रता से बोले—"महाराज! उनके समय के सम्बन्ध में न पूछिये। उनका तो एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाता था। वे प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठते थे, तब से और जब तक सोते नहीं थे, तब तक भगवत् पूजा, सेवा, अर्चा तथा कथा कीर्तन में ही निरन्तर लगे रहते थे। उनका सभी समय सफल ही व्यतीत होता था। उन्हें शारीरिक, मानसिक, दैविक और भौतिक दुःख कभी हुआ ही नहीं। हो भी कैसे? जो सदा सुख स्वरूप श्रीहरि की चर्चा करता रहता है, उसे ये दुःख कैसे सन्ताप पहुँचा सकते हैं। इस प्रकार हे मुनियो! महाराज स्वायंभुवमनु एक मन्वन्तर तक पृथ्वी पर शासन करते रहे।"

महामुनि मैत्रेयजी विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार तुम्हें—यह आदिराज-महाराज स्वायंभुवमनु का परम पवित्र-चरित्र सुनाया। ये ही सृष्टि के आदि नियमकर्ता हुए। ये इतने धर्मात्मा और पवित्र चरित्र हृदय के थे, कि बड़े-बड़े त्यागी, विरागी, यती, तपस्वी इनके समीप आकर अपनी शंकाओं का समाधान किया करते थे। एक बार समस्त बड़े-बड़े ऋषियों ने आकर इनसे नाना प्रकार के वर्णाश्रम सम्बन्धी प्रश्न किये। मुनियों का काम ही यह होता है कि वे सदा प्रजा के हित में लगे रहें। जब मुनियों ने इनसे इस प्रकार प्रश्न किये तो इन्होंने उन सबके शास्त्रीय ढङ्ग से बड़े सुन्दर उत्तर दिये। उन उत्तरों की स्मृति ही संसार में आज तक 'मनुस्मृति' के नाम से प्रसिद्ध है। सभी वर्णाश्रम धर्मावलम्बी

उसके नियमों का आदर करते हैं और यथाशक्ति-यथासामर्थ्य उनके पालन की भी चेष्टा करते हैं। विदुरजी! जिस प्रकार आप नीतिशास्त्र पण्डित हैं, आपकी नीति 'विदुरनीति' के नाम से विख्यात है, उसी प्रकार महाराज मनु सभी विषयों के ज्ञाता, पण्डित और जानकार थे! संसार में उन्होंने जो नियम बाँध दिये, उन्हीं का पालन उनके पुत्र, पौत्र और वंशधर आज तक करते आ रहे हैं। घोर कलियुग आने पर इन नियमों में शिथिलता आ जायगी—प्राय लुप्त हो जायँगे, किन्तु फिर सत्ययुग आने पर ऋषिगण इन्हीं नियमों का प्रचार करेंगे।

इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप में यह मनुचरित्र सुना दिया, अब आप महामुनि कर्दम और देवहूति के चरित्र को श्रवण करें।

छप्पय

भये नृपति निश्चिन्त ब्याह करि मिलि कर्दम तें।
दोनों कूँ समुझाय चले मनु मुनि आश्रम तें॥
तनया निरखि वियोग मातु-पितु हिय भरि आयो।
छाती तें लिपटाय नेह को नीर बहायो॥
वत्स धेनु बिलगत समय, बार-बार घबराय जस।
मनु शतरूपा तें लिपट, देवहूति बिलखाय तस॥

कर्दम मुनि की तपस्या और देवहूति की सेवा

[१५५]

पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिङ्गितकोविदा ।
नित्यं पर्यचरत्प्रीत्या भवानीव भवं प्रभुम् ॥
विश्रम्भेणात्मशौचेन गौरवेण दमेन च ।
शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च भोः ॥❀
(श्री भा० ३ स्क० २३ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

मात पिता पुर गये कुवँरि ने धीरज धार्यो ।
पति सेवा सर्वस्व सती को धर्म विचार्यो ॥
तजे दम्भ, छल, कपट, काम ते चित्त हटायो ।
संयम शौच समेत धर्म सेवा अपनायो ॥
असन बसन सुधि नहिँ रही, मलिन कुटिल कच सब बदन ।
तन मन ते सेवा निरत, करहिँ सदा इन्द्रिय दमन ॥

❀ मैत्रेयजी विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी ! जब देवहूति के माता-पिता चले गये, तो वह अपने पति की सेवा से उसी प्रकार सन्तुष्ट रखने लगीं जैसे पार्वतीजी शिवजी को अपनी सेवा से सन्तुष्ट रखती हैं। क्योंकि वह उनके सभी संकेतों को समझ गई थी। निरन्तर सावधानी पूर्वक विश्वास, शौच, इन्द्रिय-दमन, शुश्रूषा, सौहार्द, आदर और मधुर वाणी के द्वारा अपने पति को सन्तुष्ट करने लगी।"

जब तक विषयों का इन्द्रियों से संसर्ग नहीं होता तब तक धैर्य की परीक्षा नहीं होती। इन्द्रियों में विकार उत्पन्न करने के हेतुभूत विषयों के सम्मुख उपस्थित रहने पर भी जिसके मन में विकार उत्पन्न नहीं होता, वही धीर पुरुष है। वस्तु के अभाव में संयम करना भी श्रेष्ठ है। अन्न के न रहने पर एकादशी-व्रत करना उत्तम है, किन्तु सब कुछ उपस्थित होने पर भी मन को उधर से रोके रहना सर्वश्रेष्ठ है। विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध मनीषियों ने अग्नि और मक्खन के सदृश बताया है। अग्नि के समीप पहुँचने पर नवनीत पिघल ही जाता है, विषयों से संसर्ग होने पर चित्त में चचलता होनी स्वाभाविक है, किन्तु उस समय भी जो मन को संयम मे रखते हैं, उसके आधीन नहीं हो जाते, वे ही आदर्श पुरुष कहलाते हैं! उन्हीं का नाम चरित्रवान् है। उनके स्मरण से हमारा हृदय पवित्र होता है, उनके अनुकरण से जीवन में महानता आती है।

मैत्रेय मुनि विदुरजी से कह रहे हैं—"विदुरजी! अब तक तो मुनि विवाह के लिये उत्सुक थे। विवाह होते ही उनकी उत्सुकता विलीन हो गई। उन्होंने दृढ़तापूर्वक मन को विषयों की ओर से रोका और अपनी पत्नी से बोले—"राजपुत्रि! तुम घबराओगी तो नहीं? मेरे प्रति तुम्हारी अश्रद्धा तो न होगी? तुम जानती हो हमारा धन तो तपस्या है, इसलिये हम लोग तपोधन कहाते हैं। मैं फिर तपस्या करूँगा, तुम दुखी तो न होगी?"

हाथ जोड़कर देवहूति अग्नि के समान तेजस्वी, तप के प्रभाव से देदीप्यमान–अपने पति से बोली—"प्रभो! बाल्यकाल से ही मुझे यह शिक्षा दी गई है, कि सती साध्वी-स्त्रियों के पति ही सर्वस्व हैं। पति सेवा ही उसका मुख्य कर्तव्य है। उनकी इच्छा में अपनी इच्छा मिला देने से उसे अक्षय लोकों की प्राप्ति होती

है। जिसमें आपकी प्रसन्नता हो उसी से मैं प्रसन्न हूँ, आप तपस्या करें, मैं हर प्रकार से आपकी सेवा करूँगी।"

अपनी पत्नी के ऐसे धर्मयुक्त वचन सुनकर कर्दम मुनि को बड़ा सन्तोष हुआ और वे फिर से तपस्या में लग गये। वे तो समाधि सुख का आनंद ले चुके थे, फिर उन्हें ये विषय सुख क्या आनन्द दे सकते थे? अतः वे प्रातःकाल नित्य कर्म से निवृत्त होकर ध्यान में बैठते, तो कभी रात में ध्यान भङ्ग होता, कभी दूसरे दिन और कभी कई दिनों के पश्चात्। अग्निहोत्र आदि का समस्त कार्य देवहूति ही करती। वह, मैं राजपुत्री हूँ इस अभिमान को छोड़कर निरन्तर मुनि की सेवा में संलग्न रहती। स्वयं, वन से सूखी लकड़ी लाती, अपने हाथ से समस्त आश्रम को झाड़ती बुहारती, पानी छिड़कती, फिर गोबर से लीपती, स्वस्तिक और ग्रह-मण्डल बनाती, कन्द-मूल फल एकत्र करके लाती और ध्यान भङ्ग होने पर भगवान् को निवेदन करती, पति के प्रसाद पा लेने पर बचा हुआ थोड़ा बहुत प्रसाद पाती। जब पति कई दिन निरन्तर ध्यान में मग्न रहते, तो वह उपवास करती। इस प्रकार वह निष्कपट भाव से पति की सेवा करती रहती।"

विदुरजी ने पूछा—"ब्रह्मन्! देवहूति तो युवावस्थापन्ना थी, उसे सर्वगुण सम्पन्न पति प्राप्त थे, फिर उसके मन में सांसारिक सुखों की इच्छा क्यों नहीं उत्पन्न हुई?"

इस पर मैत्रेयजी बोले—"महाभाग! इच्छा कभी हो भी तो वह धर्म-पाश में बँधी थी। पति की तपस्या में सुख है, मुझे भी अपनी इच्छा उनकी ही इच्छा में मिला देनी चाहिये। छल कपट से नहीं, दम्भपूर्वक दिखाने को वह ऐसा करती हो सो बात नहीं। हृदय से वह अपने पति को परमेश्वर मानती थी, कभी मन से उनके प्रति द्वेष नहीं करती थी। पति की इच्छा के विरुद्ध

कभी वह आचरण नहीं करती थी। कभी आलस्य नहीं करती थी। अतिन्द्रिल-भाव से सदा सावधान होकर सेवा में ही संलग्न रहती। तीनों समय सरस्वती के सुन्दर स्वच्छ सलिल में स्नान करती, शौच और यम के साथ रहती। कभी शृङ्गार नहीं करती थी। कंघी न करने और तैल आदि न डालने से उसके काले-काले घुँघराले बाल मलिन हो गये थे। उनकी लटें बन गईं थीं। वेणी चिपट कर एक हो गयी थी। यौवनावस्था के सब चिन्ह विलुप्त-से हो गये थे। उसका सुन्दर शरीर काँटे की तरह सूख कर अत्यन्त कृश हो गया था। शरीर का चर्म काला पड़ गया था। कभी तैल उबटन न लगाने से उसमें झुर्रियाँ पड़ गयी थीं। शरीर पर मैल जम गया था, आँखें नीचे गड़ गयी थीं, कपोल पिचक गये थे। फिर भी वह सब कामों को हँसती हुई करती, मुनि से सदा प्रेमपूर्वक डरते हुए सम्भाषण करती। कोई भी बात कहने के पूर्व वह मुस्कुरा देती। बिना हँसे–प्रसन्न वदन हुए–वह नहीं बोलती थी। ऐसी छल कपट रहित प्रेमपूर्वक परिचर्या से तो पाषाण भी पिघल सकता है, फिर तपस्या से उन महर्षि का नवनीत से भी स्निग्ध हृदय क्यों न पिघलेगा? वे देवहूति के शील, स्वभाव, सन्तोष, इन्द्रिय-दमन और श्रद्धा-पूर्वक की हुई सेवा से सन्तुष्ट हुए। एक दिन अत्यन्त स्नेह से समस्त ममता बटोरकर उसके सिर पर हाथ फेरते हुए भगवान् कर्दम बोले—"हे महापुत्री! मैं तुम्हारी इस निष्कपट भाव से की हुई सेवा से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। मेरी सेवा के सम्मुख तुमने अपने शरीर की कुछ भी चिन्ता नहीं की। उसे सुखाकर काँटे के सदृश बना दिया। तुम्हें पत्नी रूप से पाकर मैं कृतार्थ हो गया।"

हाथ जोड़े हुए डरते-डरते देवहूति ने कहा—"प्रभो! आज आप कैसी बातें कर रहे हैं? यह शरीर तो आपका ही है।

सेवा करना ही तो मेरा परम धर्म है। यदि मैं सेवा न करती तो पाप लगता, अपने धर्म से च्युत होती। मैंने तो कोई प्रशंसा के योग्य कार्य किया नहीं, केवल अपने कर्तव्य का पालन किया है। सो भी अबला होने के कारण प्रमाद से वह भी पूरा न हुआ होगा।"

भगवान् कर्दम बोले—"राजनन्दिनी! प्राणिमात्र को सबसे अधिक प्रिय अपने प्राण होते हैं। प्राण देह में रहते हैं, अतः देह को क्षीण करना स्वेच्छा से कोई नहीं चाहता। किसी की इच्छा नहीं होती कि हमारा शरीर नष्ट हो जाय। तुमने मेरे पीछे अपने शरीर की भी सम्हाल नहीं की। तुम्हारा कार्य अत्यन्त ही प्रशंसनीय है। कर्तव्य का पालन भी तो सभी नहीं करते। पुण्यात्मा पुरुषों द्वारा ही कर्तव्य पालन रूप दुरूह कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होता है। इसलिये देवि! आज मैं तुम्हारी समस्त इच्छाओं को पूर्ण करूँगा। आज मेरी कृपा का द्वार चारों ओर से खुला है। तुम केवल मुझे भभूतिया-बाबाजी ही मत समझो, मेरी लँगोटी को देखकर मुझे अकिञ्चन न जानो! मैंने धर्मपूर्वक, शास्त्रीय ढङ्ग से भगवान् पुराण पुरुष की विधिवत् उपासना की है। अपनी तपस्या, समाधि, ज्ञान और योग के द्वारा मुझे सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। संसार के शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सम्बन्धी विषय भोग तुच्छ हैं, क्षणिक हैं, नाशवान् हैं। मैंने भगवान् की आराधना के प्रभाव से उन भोगों को प्राप्त कर लिया है जो दिव्य हैं, जिनका भोग कल्प-कल्पान्तरों तक करते रहो तो भी नाश न हो। आज मैं अपनी उन समस्त सिद्धियों का उपभोग तुम्हारी प्रसन्नता के लिये करना चाहता हूँ, बोलो, तुम क्या चाहती हो?"

अपने आराध्य देव, अपने प्राणनाथ पति की इस अपरिमेय कृपा को देखकर देवहूति का हृदय बाँसों उछलने लगा। उसके

हर्ष का पारावार नहीं रहा। नीचे धँसी हुई आँखों में ज्योति चमकने लगी। म्लान हुआ मुख, कमल की भाँति खिल गया, उसके रोम-रोम से प्रसन्नता फूटकर निकल रही थी। वह अपने आनन्द को सम्हालने में समर्थ न हो सकी। अत्यन्त उल्लास के साथ गद्‌गद्‌ वाणी से कहने लगी—"प्रभो! सेवा का सर्वोत्कृष्ट पारितोषिक यही है कि अपना आराध्यदेव प्रसन्न हो जाय। मेरे लिये इससे बढ़कर और श्रेष्ठ वरदान क्या होगा, कि आप सभी सिद्धियों के स्वामी मेरे आराध्यदेव इस दासी की क्षुद्र सेवा से सन्तुष्ट हैं। आपकी प्रसन्नता ही मेरे समस्त सुखों की मूल है। आपका कृपा-प्रसाद ही मेरे लिये सब कुछ है!"

भगवान् कर्दम अपनी प्रिया के ऐसे विनीत वचन सुनकर अधिक प्रसन्न हुए और दुगुने उत्साह और उल्लास के साथ बोले—"प्रिये! तुम मेरे गौरव से ऐसी बातें कह रही हो। अभी तुम्हें मेरी महिमा का पता नहीं। वह महिमा इन चर्म चक्षुओं से देखी भी नहीं जा सकती। जिन्होंने भक्ति भाव से भगवान् को ही सर्वस्व समझकर उनकी अनन्यभाव से उपासना नहीं की हो, वे उस महिमा के तत्व को समझ ही नहीं सकते। देवि! मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ। तुम मेरी उस महिमा को देखो—जिसे इन्द्र तीनों लोकों के ऐश्वर्य के मूल्य में भी नहीं मोल ले सकता।"

यह कहकर मुनि ने देवहूति को दिव्य-दृष्टि दी। उसके मुख पर अपना तपः पूत कर कमल फेर दिया। अब तो देवहूति को समस्त दिव्य सुख प्रत्यक्ष दिखाई दिये। आठों सिद्धियाँ उसे हाथ जोड़े हुए ऋषि के सम्मुख प्रत्यक्ष दिखाई दीं। ऐसा पहिले कभी न सुने न देखे हुए दिव्य विषय सुखों को देखकर देवहूति हक्की-बक्की-सी रह गई। अब उसे ज्ञात हुआ, मेरे पति साधारण ऋषि ही नहीं साक्षात् दूसरे ब्रह्मा हैं, माया के स्वामी हैं, समस्त ऐश्वर्य के अधिपति हैं। उन दिव्य सुखों को देखकर ही उसका

चित्त लुभा गया और वह प्रेमपूर्वक पतिदेव के पादपद्मों में पड़ गई।

महामुनि कर्दम ने पत्नी को उठाकर प्रेमपूर्वक हृदय से लगाया और बोले—"प्रिये! अब तुम संकोच त्यागकर अपनी इच्छा बताओ।"

पति के इतने प्यार को पाकर देवहूति ने आज अपने जन्म को सफल समझा और वह प्रेम में इतनी विभोर हो गई कि ऋषि के बार-बार पूछने पर भी वह कुछ न बोल सकी।"

छप्पय

दृढ़तर प्रेम कपाट कृपा करि मुनिवर खोले।
सेवा से सन्तुष्ट प्रिया तें हँसिके बोले॥
हे मनुनन्दिनि! मोहि कर्यो सेवातैं वश में।
देहुँ अतुल ऐश्वर्य दिव्य सुख भामिनि अब मैं॥
वर माँगौ दुख भगि गयो, अब आई सुख की घड़ी।
अष्ट सिद्धि, नव निद्धि ये, कर जोरे सम्मुख खड़ीं॥

देवहूति को वर प्रदान

[१५६]

राद्धं बत द्विजवृषैतदमोघयोग-
मायाधिपे त्वयि विभो तदवैमि भर्तः।
यस्तेऽभ्यधायि समयः सकृदङ्गसङ्गो-
भूयाद्गरीयसि गुणः प्रसवः सतीनाम् ॥*
(श्री भा० ३ स्क० २३ अ० १० श्लोक)

छप्पय

प्रीति युक्त पति वचन सुने बोली प्रियवानी।
हे द्विज वृषभ! तुम्हारि अतुल महिमा अब जानी॥
मुनि बोले—मनुपुत्रि! मोहि कस बैल बतावे।
देवहूति हँसि कहे—धेनुपति वृषभ कहावे॥
हँसे बात वर मुनि सुमिरि, प्रिया अंकमहँ भरि लई।
कटि कदली सम शिथिल ह्वै,पिय-हिय महँ सटि गिरि गई॥

---

* अपने पति के द्वारा दिखाई हुई दिव्य-माया देखकर देवहूति उनसे कहने लगी—"हे द्विज वृषभ! आप अमोघ माया के अधिपति हैं। समस्त ऐश्वर्य आपको प्राप्त है यह बात मैं मानती हूँ, सत्य है, किन्तु हे सर्वसमर्थ स्वामिन्! विवाह के समय मेरे पिता के सम्मुख जो आपने प्रतिज्ञा की थी—सन्तानोत्पत्ति तक मेरे साथ आपका अग संग होगा, वह प्रतिज्ञा अब पूरी होनी चाहिये। क्योंकि अपने पति के द्वारा पतिव्रता स्त्रियों को पुत्र की प्राप्ति होना परम लाभ है।"

दूरी में शिष्टाचार और संकोच रहता है। समीपता मनुष्य को काचित् धृष्ट बना देती है। गम्भीरता की एक सीमा होती है। मनुष्य, कुछ पुरुषों में कुछ अवसरों पर, कुछ काल तक गम्भीर रह सकता है। सदा सर्वदा कोई भी गम्भीर नहीं रह सकता और उसकी आवश्यकता भी नहीं। कभी मनुष्य बनावट को छोड़कर स्वाभाविकता का भी अनुभव करना चाहता है। जिन राजे-महाराजों को, जिन आचार्य और धर्मोपदेशकों को हम सभा में अत्यन्त गम्भीर, शिष्टाचार युक्त और नपे तुले शब्द बोलने वाले पाते हैं, उन्हें ही जब अपने अत्यन्त निकटवर्ती-स्त्री, पुत्र, भृत्य, शिष्य तथा अन्य घनिष्ट सम्बन्धियों के साथ एकान्त में बातें करते देखते हैं, तो उनकी वह अस्वाभाविक गम्भीरता वहाँ नहीं रहती। वे खुलकर बातें करते हैं, हँसते हैं, खेलते हैं और विनोद भी करते हैं। गम्भीर से गम्भीर पुरुष जब बच्चों के साथ खेलता है, तो वह बच्चा बन जाता है।

पति-पत्नी का सम्बन्ध भी ऐसा ही होता है, आरम्भ में जब तक एक दूसरे के हृदय पर अधिकार नहीं कर लेते, संकोच लज्जा, शिष्टाचार और भय रहता है। सम्पर्क बढ़ता जाता है, एक दूसरे को स्नेह पाश में बाँधते हैं, त्यों-त्यों संकोच, शिष्टाचार हटता जाता है और धृष्टता आकर उनका स्थान ग्रहण करती जाती है।

महामुनि मैत्रेय कहते हैं—"विदुरजी! विवाह के अनन्तर कर्दम मुनि फिर घोर तपस्या में लग गये। दोनों में स्त्री-पुरुष का जो व्यवहार होता है, वह हुआ ही नहीं। देवहूति उन्हें अपना श्रद्धेय समझकर बड़े शिष्टाचार के सहित सेवा करने लगी। मुनि उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते, वह भी डरती-डरती नीचा सिर किये, हाथ जोड़कर कुछ कहना होता तो कहती। नहीं चुपचाप सेवा में संलग्न रहती। अब जब, मुनि

उसकी सेवा से सन्तुष्ट होकर उसे वरदान देने को उद्यत हुए, साथ ही उन्होंने अपना समस्त ममत्वपूर्ण प्यार उस अपनी अनुरक्ता पत्नी के ऊपर उड़ेल दिया, तब तो वह निहाल हो गई। मुनि के नेत्रों में स्नेह था, देवहूति का भय दूर हुआ, सङ्कोच भाग गया। उनके योग माया के अतुल ऐश्वर्य को देखकर वह मन्त्रमुग्ध की भाँति बन गई। मेरे आराध्य-देव आज मुझे समस्त सुख देने को उद्यत हैं। आज वे अपनी सिद्धियों के चमत्कार को मेरी प्रसन्नता के लिये उपयोग में लाना चाहते हैं, इसके स्मरण मात्र से उसके रोम-रोम खिल उठे। मुनि आज गम्भीर नहीं थे, हँस-हँस कर बातें कर रहे थे। उसके मुख पर हाथ फेरकर उसे अपने दिव्य ऐश्वर्य का दर्शन कराया था, इससे उसका साहस बढ़ा। महामुनि बच्चों की तरह खिलकर बोले—"प्रिये! देखा, तुमने मेरी तपस्या का प्रभाव? तुम्हारे बाप के घर ऐसा ऐश्वर्य था?"

बाप का नाम सुनकर तो देवहूति को प्रणय-कोप आ गया। अब तो धृष्टतापूर्वक सब कुछ कहने-सुनने का अधिकार प्राप्त हो गया और ऐसे समय जब कि पतिदेव स्वयं विनोद कर रहे हैं। देवहूति ने बनावटी गम्भीरता के स्वर में हाथ जोड़कर हँसी रोकते हुए कहा—"हे द्विज वृषभ! आपके ऐश्वर्य का क्या कहना है। आप तो समस्त ऐश्वर्य के स्वामी हैं।"

यह सुनकर महामुनि हँसे और बोले—"मनुपुत्री! हम तो समझते थे, तुम बड़े बाप की बेटी हो। बोलना, चालना, संयम, शिष्टाचार जानती होगी, तुम तो निरी ग्रामीण ही निकलीं। द्विज वृषभ के क्या माने होते हैं? ब्राह्मणों में बैल। पति को बैल कहकर सम्बोधन करना चाहिये क्या?"

अपनी हँसी को रोककर हाथ जोड़कर मृषा-शिष्टाचार के स्वर में देवहूति ने कहा—"प्रभो! पति-पत्नी की बोली तो कुआँ

की बोली के समान है। कुआँ में जैसा शब्द करोगे, उसके उत्तर में वैसा ही शब्द निकलेगा। यहाँ तो मेरे आपके अतिरिक्त दूसरा कोई अन्य पुरुष है नहीं। एकान्त में तो पति-पत्नी चाहें जो कुछ कहें। आपने तो भगवान के सम्मुख मुझे गृहमेध धेनु कहा था। उनसे कामधेनु की याचना की थी। गौ का पति तो बैल ही होता है। मैंने कौन-सी अनुचित बात कही ?"

इतना सुनते ही मुनिवर बड़े उच्च स्वर से खिल-खिलाकर हँस पड़े और अपनी दोनों भुजायें फैलाकर उसका स्नेह से आलिंगन करते हुए बोले—"तुमसे यह बात किसने कह दी ?"

पति का प्रेमालिंगन पाकर देवहूति आज निहाल हो गई। उसके सभी अंग शिथिल हो गये। कटी-कदली की भाँति वह अपने प्रियतम के वक्षःस्थल में लुढ़क गई। मुनि को उसके अत्यंत क्षीण शरीर को देखकर बड़ी दया आई। उसके चिकटे और रूखे बालों को देखकर उनका हृदय भर आया, सोचने लगे—"देखो, सभी सुखों को भोगने योग्य इस राजपुत्री की कैसी दुर्दशा हो गई है। अब मैं इसे ऐसे सुख दूँगा, जो मर्त्यलोक के चक्रवर्तियों की पत्नियों को तो दुर्लभ हैं ही, स्वर्ग में शची भी ऐसा सुख नहीं भोग सकती। अत्यन्त स्नेह के साथ बोले—"प्रिये! अब मुझे शीघ्र बताओ तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ?"

देवहूति ने मुनि की दृष्टि में अपनी दृष्टि घोलते हुए कहा—"आप अब मुझसे क्या बार-बार पूछ रहे हैं ? अब मेरे लिये क्या वस्तु दुर्लभ है ? आप मुझे प्राप्त हो गये सब कुछ प्राप्त हो गया। सबकी स्वामिनी मैं स्वतः बन गई। हम स्त्रियों का यही सौभाग्य है, पुरुष अनेक वर्ष पढ़कर पण्डित की पदवी प्राप्त करता है। स्त्री उसके घर में आते ही बिना पढ़े पंडितानी बन जाती है। गुरु की कितनी सेवा शुश्रूषा करके मनुष्य वैद्य बन पाता है। पत्नी आते ही वैद्यानी बन जाती है। इसी भाँति आपने

सहस्रों वर्ष तपस्या करके तपस्वी की उपाधि प्राप्त की, मैं आते ही तपस्विनी हो गई। आपकी सब सिद्धियाँ मुझे स्वतः ही प्राप्त हो गई। फिर भी पति के प्रसन्न होने पर पत्नी की एक ही इच्छा......!"

मुनि बोले—"वह कौन-सी इच्छा रहती है ?"

देवहूति ने कहा—"वह यही कि विवाह का मुख्य सुख प्राप्त हो, साथ ही श्रेष्ठ सन्तान की भी प्राप्ति हो। पत्नी को यदि संसार की सभी श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ सामग्रियों को स्वामी समर्पित करे, किन्तु उससे पत्नीत्व का मुख्य सम्बन्ध न रखे—पति के द्वारा योग्य सन्तान की प्राप्ति न हो—तो सभी सुख उसी प्रकार व्यर्थ हैं जिस प्रकार नमक के बिना साग व्यर्थ-से हो जाते हैं। आपने विवाह के समय मेरे पिता से भी यह बात कही थी कि इसके गर्भ धारण पर्यन्त मेरा इससे अंग-संग होगा। उस प्रतिज्ञा के पूरा होने का अब समय आ गया है। आपकी यदि मेरे ऊपर प्रसन्नता है, यदि मुझे गृहस्थोचित सुखों को प्रदान करना चाहते हैं—तो उसी के लिये प्रयत्न कीजिये।"

हँसते हुए मुनि बोले—"इसके लिये प्रयत्न ही क्या करना ?"

देवहूति हँसती हुई बोली—"अब महाराज ! आप तो बाबा जी ठहरे क्या बताऊँ आपको ? कुछ वस्त्र, आभूषण चाहिये, तेल फुलेल चाहिये, उबटन अंगराग चाहिये, महावर मिहदी चाहिये, चूड़ी बिछिया चाहिये और सबसे मुख्य बात यह है एक घर चाहिये। घर के बिना गृहस्थी कैसी ! घर हो और घर वाली हो, तभी वह गृहस्थी कहला सकता है। और घर न हो, घर वाली को लिये बिना घर बार के घूमता रहे, वह भी यथार्थ गृहस्थी नहीं।"

कर्दम मुनि बोले—"यह कुटी है तो सही।"

देवहूति ने खीजकर कहा—"अब आपको कैसे समझाऊँ ?

ऐसी घास-फूँस की कुटी में कहीं गृहस्थ का सुख भोग किया जाता है ? साल भर से अधिक मुझे आपकी इस कुटी में आये हो गये। गर्मियों में ऐसी लू चलती है, कि शरीर झुलस जाता है। आँधी में चारों ओर से धूलि भर जाती है। बर्तन, फल, फूल, वल्कल, तथा सभी सामग्रियाँ धूलि से ढँक जाती हैं। वल्कल भीग जाने से नींद नहीं आती, इच्छा न रहने पर भी जागरण हो जाता है। स्वतः तपस्या हो जाती है, जाड़ों की तो कुछ न पूछो। चारों ओर ठंडी-ठंडी सुर-सुर हवा आती है। वह शूल की भाँति आकर शरीर में चुभ जाती है। कहाँ का विश्राम, कहाँ की निद्रा, बैठे-बैठे पेट में घुटने देकर रात्रि बितानी पड़ती है। इसलिये यदि गृहस्थ-सुख भोगना है, तो एक सुन्दर-सा भवन होना चाहिये—जैसे मेरे पिता के यहाँ है।"

यह सुनकर कर्दमजी हँस पड़े और बोले—"प्रिये! मेरी महिमा समझकर भी तुम मर्त्यलोक की वस्तुओं की ही इच्छा रखती हो। तुम्हारे लिये ऐसे भवन का निर्माण करूँगा, जिसके सदृश इस लोक में तो क्या तीनों लोकों में भी ऐसा भवन न होगा।"

देवहूति ने कहा—"महाराज! इतने बड़े की आवश्यकता नहीं। उसके लिये बहुत-सा चूना, ईंट, पत्थर आदि सामान चाहिये। बहुत से बनाने वाले राज खोजने पड़ेंगे। वर्षों में बनकर तैयार होगा। आप ऐसा ही काम चलाऊ घर बना लें जिसमें एक उठने-बैठने का भवन हो, एक अन्तःपुर का, एक रसोई का और एक आने-जाने वालों के लिये। इतने से ही साधारण गृहस्थी का ठाठ जम जायगा।"

हँसते हुए भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है। तुम थोड़ी आँखें तो मीच लो।" देवहूति ने यह सुनकर आँखें बन्द कर लीं। मुनि बोले—"देखो, तुम कोर से देख रही हो, सर्वथा बन्द

कर लो।" देवहूति ने दोनों हाथों से आँखें बन्द करते हुए कहा—"और कैसे बन्द करूँ, मेरा विश्वास न हो तो तुम्हीं बन्द कर लो।" हँसते हुए मुनि बोले—"अच्छी बात है, खोल दो आँखों को। देखो, सामने यह क्या है?"

देवहूति ने ज्यों ही आँखें खोलीं, कि उसकी दृष्टि चकाचौंध हो गई। पहिले तो वह समझ ही न सकी, कि मैं सो रही हूँ या जाग रही हूँ। मुझे जो दिखाई दे रहा है, वह यथार्थ है या स्वप्न का संसार। कई बार आँखों पर हाथ फेरकर वह हक्की-बक्की होकर बार-बार पति की ओर देखती और फिर उनके ऐश्वर्य को निहारती।"

मुनि मुस्कुरा रहे थे। देवहूति हर्ष और विस्मय के मध्य में झोंके खा रही थी। उसने सामने देखा—एक अत्यन्त ही दिव्य सतखडा-भवन खड़ा है। उसकी सभी दीवारें शुद्ध-सुवर्ण की बनी हुईं हैं, वह सर्व सम्पत्ति सम्पन्न, सर्वश्रेष्ठ, अतिशय सुन्दर, समस्त दिव्य कामनाओं को पूर्ण करने वाला, संसार की सर्वातिशय-शोभा से सुशोभित और अत्यन्त ही मनोहर था। उसके सभी खम्भे मणिजटित थे। जिन पर इन्द्रनील-मणि पुखराजों की कारीगरी हो रही थी। एक के ऊपर एक, इस प्रकार सात खण्डों में चार-चार उप भवन थे। बीच में सबमें विशाल भवन और बरामदे थे। सभी भवनों में पृथक्-पृथक्, सुन्दर सुसज्जित, स्वच्छ तोपक तकियों से युक्त शैयायें बिछी थीं। जिन पर दूध के झाग के समान, चन्द्रमा की चाँदनी के समान, धुले वस्त्र बिछे थे। स्थान-स्थान पर आसन बिछे थे, जिन पर सुवर्ण का काम बना हुआ था। अत्यन्त ही सुकोमल बड़े तकिये रखे थे, रंग-बिरंगी खूँटियाँ लगी थीं, जिन पर रंग-बिरंगे बहुमूल्य-वस्त्र टँग रहे थे। जिसकी छतों में तथा भीतों में अनेक प्रकार की कारीगरी हो रही थी। सुवर्ण की रत्नजटित-चौकियाँ रखी थीं। आराम करने की

चौकियाँ पृथक् थीं, जिन पर मखमली-गद्दियाँ बिछी थीं। सर्वत्र छोटे बड़े पंखे यथा स्थान रखे थे।

यह विशाल भवन सभी ऋतुओं में सुखदाई था। जाड़ों में वह उष्ण रहता था। गुलाबी-धूप से सब भवन, उपभवन भर जाते। गरमियों में ठंडा रहता था। टट्टियों और परदे डाल देने से लू नहीं लगती थी। कितनी भी आँधी आवे, धूलि का एक कण भी भीतर नहीं जाता था। उष्णता तो उसके द्वारों पर भी पैर नहीं रखती, बाहर से झाँककर चली जाती।

वर्षा में वह धुल जाता। मक्खी मच्छर का नाम नहीं। मक्खी जहाँ भी बैठती रपट जाती। मच्छरों का प्रवेश नहीं, उष्णता का नाम नहीं। उसमें बैठकर वर्षा ऋतु बड़े सुख पूर्वक बिताई जा सकती थी। उसमें स्नान-गृह, मनोरंजन-गृह, शृङ्गारगृह, शयन-गृह, विहार-गृह, भोजन-गृह—सभी पृथक् बने थे। सब में जल का प्रबन्ध था। शौचालय उसी से सटा दूर था। रसोई-गृह पृथक् था, वहाँ आग जलाने की आवश्यकता नहीं। जो इच्छा करो वहीं सामग्री तत्काल आ जाती। झंडी और पताकाओं से वह सुसज्जित था। रंग-विरंगी झंडियाँ, वायु में हिलती हुई बड़ी भली मालूम पड़ती थीं।

साज, शृङ्गार, भोजन, वस्त्र, किसी भी सामग्री का वहाँ अभाव नहीं था। दिव्य-पुष्पों की कभी न कुम्हलाने वाली मालायें वहाँ टँगी थीं, जिनकी योजनों दूर तक गन्ध जाती। जिन पर मधुलोलुप मत्त भ्रमर गुञ्जार कर रहे थे।

वहाँ का प्रांगण, महा मरकत मणि से बनाया गया था। दूर से ऐसा लगता था मानों मानसरोवर में लहरियाँ उठ रही हों। विचित्र-विचित्र वेदियाँ बैठने के लिये बाहर भीतर विद्रुम की बनी हुई थीं। हीरों और मोती से जड़ी हुई सुवर्ण की कपाटें लगी

थीं। ऊपर इन्द्र नीलमणि के शिखरों पर, विचित्र प्रकार की कारीगरी से युक्त कलशे रखे हुए थे।

उसके ओखा-मोखा, झारी-झरोखा सभी सौंदर्य युक्त थे, नेत्रों को सुख देने वाला वह विमान अद्वितीय था। तोरण-वन्दन-वारों से सुसज्जित था। उसके भीतर एक सुन्दर उपवन और सरोवर भी था। उपवन में विविध भाँति के दिव्य पुष्प खिल रहे थे। सुन्दर-सुन्दर सघन वृक्ष, सुस्वादु फलों के भारों से नमित हो रहे थे। सरोवर में विविध भाँति के रक्त, नीले, पीले, सफेद और बहुरंगे कमल खिल रहे थे। उसके किनारे मणियों के घाट बने थे। सुन्दर-सुन्दर छोटे-छोटे सुहावने बुर्ज से बनाये गये थे, जिन पर हंस, सारस, चक्रवाक तथा मयूर आदि पक्षियों की कृत्रिम-मूर्तियाँ ऐसी बनाई गई थीं, कि वे सजीव-सी ही जान पड़ती थीं। हंस, सारस, चकोर, कोकिला आदि सजीव पक्षी भी कलरव कर रहे थे। चारों ओर पुष्पों पर षट्पद गूँज रहे थे। उस विमान की शोभा अवर्णनीय थी। इतना ही कहना पर्याप्त होगा, कि उसके सदृश तीनों लोकों में ऐसा विमान नहीं था।

क्षण भर में ऐसे विमान को देखकर देवहूति परम विस्मित हुई और वह मारे प्रेम के अपने पति की ओर देखती की देखती ही रह गई। वाणी रुद्ध हो जाने के कारण उसके मुख से एक शब्द भी न निकला, फिर भी वह ऐसे विमान को देखकर बहुत हर्षित नहीं हुई। वह हर्ष-शोक के बीच में पड़ गई, हर्ष तो उसे अपने पति के इस दिव्य ऐश्वर्य और अलौकिक सामर्थ्य के ऊपर हुआ और शोक अपनी दशा देखकर हुआ, वह सोचने लगी—"विमान तो इतना सुन्दर है, किन्तु मेरा शरीर इतना कृश और मलिन है कि मैं इस पर चढ़ भी नहीं सकती। चढ़ूँ भी तो मेरे मलिन शरीर के संसर्ग से वह इतना चमकता-

दमकता विमान मैला हो जायगा। इसलिये वह अपने पति से कुछ भी न बोली।"

छप्पय

बोली—अब हृदयेश! तपस्या सिद्धि दिखाओ।
गृही सरिस सुख भवन सुभग इक नाथ बनाओ॥
सुनत तुरत मुनि दिव्य योग तैं भवन बनायो।
मणिमय सम्मति युक्त भवन लखि चित्त लुभायो॥
सब सुख उपयोगी जहाँ, विविध वस्तु भवननि भरीं।
सुन्दर शैया सुखद अति, स्वर्ण जटित चौकी धरीं॥

कर्दममुनि का पत्नी सहित सुखों का उपभोग

[१५७]

तस्मिन्नलुप्तमहिमा प्रिययानुरक्तो-
विद्याधरीभिरुपचीर्णवपुर्विमाने ।
बभ्राज उत्कचकुमुद्गणवानपीच्य-
स्ताराभिरावृत इवोडुपतिर्नभःस्थः ॥*
(श्री भा० ३ स्क० २३ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

दासी दास विहीन मलिन तनु भवन न पायो ।
समुझि भाव मुनि बिन्दुसरोवर जल परसायो ॥
भई दिव्य जल परसि सहस वर दासी आईं ।
करि सेवा शृङ्गार भवन महँ मुनि ढिँग लाईं ॥
इत मुनि मौजी मूँज की, तजि सुर सम सुन्दर भये ।
उततें हँसि आईं प्रिया, उभय प्रेम तें मिलि गये ॥

---

* मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी ! इतनी सिद्धि प्रकट करने पर भी जिनकी महिमा लुप्त नहीं हुई है, वे महामुनि कर्दम अपनी प्राण-प्रिया पत्नी में अनुरक्त हुए तथा विद्याधरियों द्वारा सेवित उसी प्रकार अपने विमान पर सुशोभित हुए, जिस प्रकार विकसित कुमुद-कुसुम युक्त तारागण से घिरे चन्द्रमा आकाश में सुशोभित होते हैं ।"

जिन विषय भोगों की प्राप्ति के लिये संसारी लोग निरन्तर व्यग्र बने रहते हैं, विषयों की प्राप्ति ही जिनके जीवन का परम लक्ष्य है, उन्हें इच्छानुसार विषयों की भी प्राप्ति नहीं होती और भगवान् से तो वे दूर ही हट जाते हैं। किन्तु जिन्होंने भगवान् को ही अपना सर्वस्व समझ लिया है, जो अपना सुख दुःख भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य से कहते ही नहीं, जो एकमात्र उनकी ही शरण में होकर अनन्य-भाव से उन्हीं की आराधना में तत्पर हैं, उन्हें यदि विषय भोगों की भी इच्छा होती है, तो उन्हें ऐसे विषय भोग प्राप्त होते हैं जो तीनों लोकों में अत्यन्त दुर्लभ हैं। किसी कारण विशेष से वे उन्हें कुछ काल के लिये ग्रहण कर लेते हैं। अन्त में वे उन्हें उसी प्रकार त्याग भी देते हैं जैसे पुरुष, मल-मूत्र का त्याग करके उससे निस्पृह-उदासीन हो जाते हैं।

महामुनि मैत्रेय विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी! जब अपनी प्रिया देवहूति की प्रार्थना पर भगवान् कर्दम ने बात की बात में अपनी योग-माया की ऐश्वर्य शक्ति से सर्वसुख सम्पत्ति सम्पन्न, इच्छानुसार जहाँ चाहो वहाँ जाने वाला दिव्य विमान बना दिया, तब देवहूति हर्ष विस्मय के साथ बोली—"भगवन्! कृश शरीर और इतना ऊँचा भवन! कैसे मैं इसमें चढ़ूँगी? कौन इसमें झाड़ बहारू देगा? आपने तो भवनों की भरमार कर दी। दिन भर इनमें झाड़ू देते-देते ही मैं थक जाऊँगी।"

कर्दम मुनि उसके अभिप्राय को समझकर बोले—"तुम डरती क्यों हो? पहिले श्रीभगवान् के निर्मित इस परम रम्य, महापावन-बिन्दुसरोवर में जाकर स्नान तो करो, फिर तुम्हारी सब कामनायें पूर्ण होंगी।"

देवहूति ने कहा—"महाराज! स्नान तो मैं नित्य ही तीन

चार करती हूँ, अब फिर आपकी आज्ञा से कर लूँगी। आज के स्नान में कुछ विशेषता है क्या ?"

गम्भीर स्वर में मुनि बोले—"हाँ, आज का विशेष-स्नान है। भगवान् के द्वारा निर्मित यह तीर्थ कल्पवृक्ष के समान है। इसमें जिस कामना से स्नान किया जायगा, वह तुरन्त पूर्ण होगी।"

यह सुनकर देवहूति अपने वल्कलों को उठाकर चलने लगी। मुनि ने कहा—"आज वल्कल ले जाने की आवश्यकता नहीं।"

देवहूतिजी ने कहा—"आप कैसी बातें कर रहे हैं। ये वल्कल इतने कोमल होते हैं, कि जहाँ भी तनिक बल लगा कि फर्र से फट जाते हैं, बिना सूखे वल्कलों के मैं वहाँ क्या पहिनूँगी क्या ओढ़ूँगी ?"

मुनि आग्रह के स्वर में बोले—"तुम जाओ तो सही, भगवान् सब प्रबन्ध करेंगे। तुम श्रीहरि पर विश्वास रखकर समस्त कार्यों को किया करो।"

देवहूति बड़े उल्लास के साथ चल दीं। उनके कृश और मलिन शरीर में आज नवीन उत्साह-सा आ गया था। जटा के आकार में बने चिकटे हुए बाल सूर्य की प्रभा में चमक रहे थे। वक्षस्थल में नवयौवन के चिन्ह जो मुरझा गये थे उनमें पुनः कान्ति-सी छिटकने लगी। उन्होंने इस सरस्वती के निकटवर्ती सुन्दर सरोवर के स्वच्छ जल में ज्यों ही डुबकी लगाई त्यों ही देखती हैं, कि उसके भीतर तो एक बड़ा ही सुन्दर महल बना हुआ है। चारों ओर से घिरा उसमें अत्यन्त रमणीय-स्नान-गृह है। वहाँ एक सहस्र नवयौवन सम्पन्ना युवतियाँ बैठी हुई हैं। सभी परम सुन्दरी और मनोज्ञा हैं। सबके नेत्र, कमल के समान विकसित हैं। सभी के शरीर से दिव्य गन्ध आ रही है। ये मानुषी नहीं, देव जाति ये विद्याधरों और किन्नरों की कन्यायें हैं। देवहूति को देखकर वे बड़े सम्भ्रम और श्रद्धा के साथ उठ

कर खड़ी हो गयीं। इन इतनी सुन्दर सुकुमारी कन्याओं को देखकर कुतूहल के स्वर में देवहूति ने पूछा—"बहिनो! तुम कौन हो? यहाँ क्यों बैठी हो? किसकी प्रतीक्षा कर रही हो? तुम्हारे हाथों में ये विविध प्रकार की शृङ्गार की सामग्रियाँ क्यों हैं?"

यह सुनकर हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर, शिष्टाचार के स्वर में उनमें से एक ने कहा—"हे स्वामिनी! हम आपकी दासी हैं, आप ही की प्रतीक्षा में बैठी हैं। स्नान कराकर हम आपका शृङ्गार करना चाहती हैं। कृपा करके आप हमें अपनी अनुरक्ता-सेविका समझकर अपनायें और सेवा का सुयोग प्रदान करें।"

इतनी सुन्दरी, सुकुमारी-कोमलाङ्गी, दिव्य-गन्ध वाली सेविकाओं को पाकर देवहूति के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वह स्नान के लिये बैठ गई। किसी ने सिर मला, किसी ने पीठ का मैल छुड़ाया, कोई शनैः-शनैः चरणों को दबाकर मलने लगी-कोई दिव्य गन्धयुक्त अंगराज लगाने लगी, किसी ने दिव्यौषधि-महौषधि के जलों से स्नान कराया। किसी ने परम सुगंधि युक्त सुखकारी तैल लगाया, इस प्रकार सभी अपनी सुकुमारी-स्वामिनी की सेवा में संलग्न हो गईं। स्नान कराके उन्होंने विविध प्रकार की शृगार की सामग्रियों से उनका शृङ्गार किया। उन्हें सुन्दर-सुन्दर नवीन दिव्य रेशमी वस्त्र पहिनाये जिनमें सुवर्ण के कलाबत्तू का काम हुआ था। बेल-बूटेदार कंचुकी पहिनाई। किसी ने पैरों के तलुओं में मिहदी लगाई, तो किसी ने एड़ी में महावर लगाया। किसी ने नखों को रँगा। उनमें बिछुए और छल्ले पहिनाये। फूल युक्त तीन सिकड़ी उनमें शोभित हो रही था। किसी ने सुवर्ण के कड़े-छड़े और नूपुरों से चरणों को सुशोभित किया। पैर के तनिक से हिलने-से वे छम-छम बजते थे। किसी ने कमर में रत्न जटित सुवर्ण शोभा युक्त

चौड़ी करधनी पहिनाई, जिसके कारण देवहूति की शोभा अपूर्व हो गई। किसी ने हाथों की उँगलियों में छल्ले, छाप, अँगूठी और आरसी पहिनाई। किसी ने सुन्दर चमकती हुई रंग-विरंगी-

चूड़ियाँ पहिनाईं। किसी ने पहुँची पहिनाई, किसी ने कंकण पहिनाये, किसी ने मनोहर बंगली पहिनाई, किसी ने कुहनियों
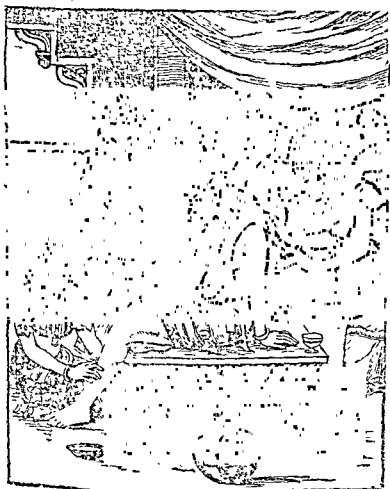
में अंगद और बाहुओं में बाजूबन्द पहिनाये, तो किसी ने गले का शृङ्गार किया। उसमें हँसली, गुलूबन्द, मोतियों के हार, सुवर्ण की हुमेल, मणिमुक्ता से जटित मोहनमाला पहिनाई तथा विविध प्रकार के सुवासित पुष्पों की सुन्दर मालायें पहिनाईं। किसी ने दाँतों में मिस्सी लगा दी। किसी ने बहुमूल्य सुन्दर सुवासित मसालेदार पान दिया। किसी ने कपोलों पर पत्रावलियों की रचना की, नेत्रों में सुन्दर अंजन लगाया, किसी ने भौंहों को सम्हाल कर उनके मध्य में कुंकुम, कस्तूरी, गोरोचन आदि से युक्त सुवासित चन्दन का तिलक लगाया। किसी ने नाक में नथ तथा कानों में कुण्डल और कर्णफूल पहिनाये। किसी ने बिन्दी ही लगाई। किसी ने काली-काली घुँघराली कुटिल-अलकावलियों को सम्हाल कर उनमें बीच-बीच में पुष्प लगाकर सुन्दर वेणी गूँथी। किसी ने सिर में चूड़ामणि और चन्द्रिका को सुशोभित किया। इस प्रकार नख से शिख तक दिव्य शृङ्गार करके सभी दासियों ने प्रजापति स्वायंभुवमनु की पुत्री, महामुनि भगवान कर्दम की पत्नी को भली-भाँति सजाया। भाँति भाँति के मंगल-द्रव्यों से उसे मूर्तिमती मगलमयी लक्ष्मी के सदृश ही बना दिया।

इस प्रकार दिव्य वस्त्राभूषणों से सजाकर, सोलहों शृङ्गार करके किसी दासी ने दिव्य-दर्पण लाकर उनके सम्मुख रखा। दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर देवहूति चकित रह गईं। वे अपने आपको स्वयं भी न पहिचान सकीं कि, मैं वही तपस्विनी हूँ जिसका सम्पूर्ण अंग मैल से आवृत था।

शृङ्गार किया जाता है किसी को रिझाने के लिए। जब वे शृङ्गार कर चुकीं, तो उनकी उत्कण्ठा हुई कि मैं अपना यह दिव्य रूप अपने प्राणनाथ को दिखाऊँ। उन्हें सहसा जाकर आश्चर्य चकित बनाऊँ। उन्हें अपने अनुपम सौन्दर्य से रिझाऊँ

उसके मन में ज्यों ही पति के मिलने की उत्कण्ठा हुई, त्यों ही वह बिना चले ही अपने प्रभावशाली पति के समीप उपस्थित हो गई।

आज कर्दमजी भी कल के तपस्वी कर्दम नहीं रहे। उन्होंने मूँज का अगड़बन्ध फेंक दिया था। भस्म के स्थान में गन्धयुक्त अंगराग उनके शरीर की शोभा को बढ़ा रहा था। वल्कल-वस्त्र विदा हो चुके थे। उनके स्थान पर सुन्दर स्वच्छ रेशमी धोती पहिने और रेशमी दुशाला ओढ़े वे बहुमूल्य आसन पर विराजमान थे। जटाओं के स्थान पर नील-वर्ण की कुटिल-अलकावली उनके मुख-मण्डल पर उसी प्रकार बिखर रही थी मानों चन्द्रमा के ऊपर अमृत पीने की इच्छा से नाग के छौने चढ़कर टेढ़े-मेढ़े हिल रहे हों। उनके कानों में मकराकृति-कुण्डल विराजमान थे, माथे पर मनोहर मुकुट। हँसते हुए वे सुकोमल बहुमूल्य तकिये के सहारे बैठे थे। बहुत-सी विद्याधरियाँ छत्र-चँवर लिये उनकी सेवा में खड़ी थीं। अपने पति के ऐसे दिव्य रूप को देखकर देवहूति के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। इधर प्रजापति भगवान् कर्दम ने भी जब देखा कि आज तो मेरी प्राण-प्रिया अपने सौंदर्य से त्रिभुवन की सुन्दरियों को तिरस्कृत कर रही है। विद्याधरियों से घिरी वह उसी प्रकार प्रतीत होती थी मानों लोकपालों की पत्नियों से घिरी हुई लक्ष्मीजी! तब तो वे उन्हें देखकर हँस पड़े। देवहूति ने भी अपने हाव-भाव कटाक्षों से कामदेव के समान सुन्दर, लोकपितामह-ब्रह्माजी के समान प्रभावशाली अपने पति को प्रसन्न किया। वे उनके योग प्रभाव से अत्यन्त ही विस्मित हो रही थीं। कर्दमजी ने उन्हें अपने कर-कमलों से पकड़कर उस विमान पर बिठाया और अत्यन्त स्नेह के साथ बोले—"आज तो तुम पहिचानी भी नहीं जातीं।"

अत्यन्त स्नेह भरित हृदय से मधुर वाणी में कृतज्ञता

प्रदर्शित करते हुए मनु पुत्री बोली—"प्रभो! आपकी तपस्या की शक्ति अपूर्व है। सत्य है, जिन्होंने आराधना द्वारा अच्युत को प्रसन्न कर लिया है, उनके लिये संसार में भोग-मोक्ष सभी सुलभ हैं। भुक्ति की तो बात ही क्या मुक्ति भी उनके सम्मुख हाथ जोड़े खड़ी रहती है।"

मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार दोनों ही उस दिव्य-विमान पर निवास करते हुए दिव्यातिदिव्य सुखों का उपभोग करने लगे। सुखपूर्वक गृहस्थ धर्म का पालन करते रहे।"

छप्पय

सोलह हू शृङ्गार करैं कर कमल घुमावत।
कमला सम निज नारि निरखि मुनि मन मुसकावत॥
नव यौवन सम्पन्न अधर मुसिकानि मनोहरि।
शोभा भई सजीव तपस्या अथवा तनु धरि॥
जस मनु तनया मुनिहु तस, शोभैं सुन्दर तनु धरैं।
मानो अंग अनंग धरि, रति सँग सुख क्रीड़ा करैं॥

कर्दमजी का लोकपालों की पुरियों में विहार

[१५८]

तेनाष्टलोकपविहारकुलाचलेन्द्र-
द्रोणीष्वनङ्गसखमारुतसौभगासु ।
सिद्धैर्नुतो द्युधुनिपातशिवस्वनासु
रेमे चिरं धनदवल्ललनावरूथी ॥*
(श्रीभा० ३ स्क० २३ अ० ३९ श्लोक)

छप्पय

बोली भामिनि–विभो ! विश्ववैभव हौं देखूँ ।
सुखद स्वर्ग सौन्दर्य इन्हीं नयननि तें पेखूँ ॥
सुनि मुनि उड़यो विमान कुलाचलपतिपै आयो ।
सुर क्रीड़ा वर भूमि दिव्य ऐश्वर्य दिखायो ॥
नन्दन, सुरसन, चैत्ररथ, वैभ्राजक, मानस सुवन ।
पुष्पभद्र उद्यान सब, लखे भयो अति मुदित मन ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! महामुनि कर्दम अपनी प्रिया के सहित रमणीक रत्नों के झुण्डों से घिरे हुए उस विमान पर चढ़कर सुमेरु पर्वत की कन्दराओं में, जो आठों लोकपालों की विहार की भूमि है, जहाँ का सखा समीर सुगन्धित हुआ मन्द-मन्द बहता है, जहाँ स्वर्ग से गिरती हुई भगवती सुरसरि की मंगलमयी ध्वनि होती रहती है, उन्हीं रमणीय कन्दराओं में सिद्धगण द्वारा वन्दित होकर कुबेर के समान विहार करते रहे।"

दिव्य हों अथवा पार्थिव, इन विषयों में सुख नहीं! इनके सेवन में शाश्वती-शान्ति नहीं, फिर भी परम्परा से ऐसा प्रवाह चला आ रहा है कि इन्हीं विषयों में सुख समझ कर उत्तरोत्तर इन्हीं की प्राप्ति के लिये हम व्यग्र रहते हैं। साधारण-निर्धन समझता है, लखपति सुखी होंगे, उनके समीप सुख की प्रचुर सामग्री है। लखपति समझता है कि करोड़पति सुखी होगा। करोड़पति, अरबपति को, वह पद्मपति को–चक्रवर्ती को, वह चक्रवर्ती इन्द्र को, इन्द्र ब्रह्मा को और ब्रह्मा सर्वस्व त्यागी विरागी को सुखी समझते हैं। वास्तव में इन्हीं की समझ सत्य है। जितनी ही विषयों की अधिक प्राप्ति होगी, उतनी ही तृष्णा बढ़ेगी। जिसकी जितनी ही अधिक बड़ी तृष्णा है, वह उतना ही अधिक दुखी है। परन्तु यह ज्ञान, बिना अनुभव के केवल सुनकर ही प्रायः नहीं होता। इसलिये क्रम मुक्ति वाले साधक इन सब दिव्यलोकों के सुखों का अनुभव करते हुए ऊपर बढ़ते हैं। कोई-कोई बुद्धि द्वारा इन सब विषयों को दृढ़-धारणा से तुच्छ समझकर, प्रकृति से परे पुरुषोत्तम-धाम में सदा नित्य सुखों के अधिकारी बन जाते हैं।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं–"विदुरजी! जब देवहूति ने अपने कामद-विमान पर बैठकर पृथ्वी के सभी सुख ऐश्वर्य का अनुभव कर लिया, उसने दशों-दिशाओं के देशों को, उनके दर्शनीय स्थानों को देख लिया, तो वह अपने सर्वसमर्थ पति से बोली–"प्राणनाथ! मैंने सुना है, सुमेरु पर्वत के ऊपर आठ–लोकपालों की दिव्य–पुरियाँ हैं। वहाँ के वन उपवन बड़े ही मनोरम हैं। सुना है, उसमें कल्पवृक्ष के बहुत-से अद्भुत वृक्ष हैं, जिनके नीचे बैठने से जो भी इच्छा करो, वही मिल जाता है। समस्त पर्वतों के स्वामी सुमेरु के सुन्दर शिखरों पर सदा संगीत की सुमधुर ध्वनि सुनाई देती है। उसकी कमनीय–कन्दराओं में किन्नर,

विद्याधर और गन्धर्वों की कामिनियाँ अपने पतियों के साथ सदा क्रीड़ा करती रहती हैं। वहाँ सदा सब ऋतुओं के अनुरूप शीतल, मन्द, सुगन्धित वायु बहती रहती है। वहाँ से भगवती-अलकनन्दा सदा हर-हर शब्द करती हुई गिरती हैं। वहाँ न शोक है, न ग्लानि ! वहाँ पर न पसीना आता है, न आलस्य। वृद्धावस्था का तो नाम ही नहीं। सभी, सदा तरुण बने रहते हैं, सभी दिव्य-सुखों का आस्वादन करते हैं, सभी रूपवान, सुन्दर और दर्शनीय होते हैं। विहार में व्यग्र बने रहना ही वहाँ का व्यापार है। उसे शास्त्रकारों ने भोग भूमि कहा है। मेरी इच्छा उन सभी वन और उपवनों को देखने की है। मैं भी देवाङ्गनाओं की भाँति उन पुण्य प्रदेशों में आपके साथ विहार करना चाहती हूँ। मैं भी अपने अतुल ऐश्वर्य से स्वर्गीय-ललनाओं को लज्जित बनाती हुई उनके हृदय में कुतूहल पैदा करना चाहती हूँ। आप सर्वसमर्थ हैं। अपने संकल्प से ही सब कुछ कर सकते हैं, अतः मेरी इस इच्छा को पूर्ण कीजिये।"

महामुनि कर्दम तो देवहूति की सेवा से सन्तुष्ट होकर उन्हें इच्छानुसार सभी उत्तम से उत्तम सुख देने को उत्सुक थे, उसकी सभी इच्छाओं को पूरा करना चाहते थे, उसे प्रसन्न करने को अपनी समस्त तपस्या को लगा देना चाहते थे। उन्हें यान-सवारी की तो आवश्यकता ही नहीं। सकल्प करते ही वह सजा-सजाया विमान-भवन आकाश में उठने लगा। देवहूति अत्यन्त कुतूहल के साथ देख रही थी। अन्तरिक्ष, भुवर्लोक में उन्होंने असंख्यों सूक्ष्म-शरीर वाले, वायु के आधार से ही रहने वाले, भूत, पिशाच तथा सिद्धों को देखा। उनका विमान बादलों को चीरता-फाड़ता ऊपर जा रहा था। नीचे के वृक्ष छोटे छोटे पौधे-से दिखाई देने लगे, बड़े-बड़े विशाल पथ, चित्र में लिखी लकीरों जैसे प्रतीत होने लगे, वक्रगति से बहने वाली बड़ी-बड़ी

नदियाँ, पतली लम्बी-सर्पिणी के समान दिखाई देने लगीं। चलते हुए नर-नारी, मक्खी-मच्छरों की तरह प्रतीत होते थे। हाथी, रथ, अन्य यान उड़ते हुए पक्षी-से दिखाई देते थे। देवहूति को विचित्र कुतूहल हो रहा था। वह आश्चर्य और उत्सुकता के साथ खड़ी-खड़ी देख रही थी। विमान के उड़ने से न धूलि उड़ती थी, न किसी प्रकार की दुर्गन्ध ही आती थी। दिव्य-मणियों के प्रभाव से वह जगमगा रहा था। उसमें शब्द नहीं हो रहा था, हिलता-डुलता भी नहीं था। उसके उड़ने से शरीर में श्रम भी प्रतीत नहीं होता था। इस प्रकार उड़ते-उड़ते बात की बात में वह मन्दराचल के शिखरों के समीप पहुँच गया।

वहाँ की शोभा को देखकर तो देवहूति भौंचक्की-सी रह गई। कितना अनुपम सौन्दर्य था उस दिव्य सुवर्ण-शैल का। कितनी भव्य थीं वहाँ की बड़ी-बड़ी विशाल गुफायें और कन्दरायें। सर्वत्र मन को लुभाने वाली सुगन्धियुक्त मन्द-मन्द वायु चल रही थी। पुष्पों की भरमार थी, पक्षियों के कलरव में मादकता थी। वहाँ मानों शोभा बिखर रही थी, सौन्दर्य का ही साम्राज्य था, सभी के शरीरों में काम व्याप्त था। वसन्त वहाँ स्थायी रूप से रहता था। वायुदेव, स्वाधीन नहीं थे। उन्हें अनुकूलता के अधीन रहना पड़ता था। वृक्षों को शोभा के अनुरूप फल, पत्र, पुष्प, पैदा करने पड़ते थे। वहाँ के फलों से एक प्रकार की मादक गन्ध आ रही थी। पुष्पों पर षट्पद मंडरा रहे थे। वे पुष्पश्री को झकझोरकर उसके साथ कलित-क्रीड़ा कर रहे थे, उसे अपने गुञ्जार रूपी गीतों से रिझा रहे थे, मना करने पर भी उसके मधु का पान कर रहे थे। पत्ते चंचल हो रहे थे, पुष्प हिल-हिलकर भ्रमरों को निषेध कर रहे थे। मकरन्द पान करके भ्रमर उड़ रहे थे। देवाङ्गनायें इठलाती, मदमाती, अलसाती इधर से उधर अपने-अपने पतियों के साथ घूम रही थीं। गन्धर्व

गा रहे थे, अप्सरायें नाच रही थीं। देवता विहार कर रहे थे। वीणा, पणव, मुरज की ध्वनि और प्रतिध्वनियों से मन्दराचल की कन्दरायें गूँज रही थीं। विमानों की श्रेणियाँ पंक्तिबद्ध खड़ी थीं, कुछ विमान उड़ रहे थे, कुछ उतर रहे थे। किसी में सुन्दर गान हो रहा था, किसी में पान का ही दौर-दौरा था, किसी में नृत्य का समारोह था, किसी में नाटक का अभिनय हो रहा था। कुछ देवता अपनी देवाङ्गनाओं के साथ विमानों से उतर कर उपवनों की ओर जा रहे थे। उपवनों की रंगभूमि में मनोरंजन के असंख्यों साज-सामान थे। जिधर देखा उधर रूप यौवन की गर्वीली, नशीली औषधियों के सेवन से मदमाती-देवाङ्गनायें घूम रही थीं। उन्हें न लज्जा थी न भय ही था। सभी विनोद में व्यस्त थे। सभी हँस रहे थे हँसा रहे थे, गा रहे थे गवा रहे थे, नाच रहे थे नचा रहे थे, नहा रहे थे नहला रहे थे, जा रहे थे, आ रहे थे, खा रहे थे खिला रहे थे, पी रहे थे पिला रहे थे, सज रहे थे सजा रहे थे,कोई किसी से प्रेमपूर्वक मिल रहा था, कोई किसी की ओर आँख तरेर कर जा रहा था। कोई पुण्य के प्रभाव से आ रहा था, कोई पुण्य क्षीण होने पर औंधा मुख करके गिराया जा रहा था। विचित्र चहल-पहल थी। न वहाँ कथा थी न कीर्तन, न उत्सव नहीं पर्व ! खाओ, पिओ, विहार करो—इसी का बोलबाला था। मुनि के विमान को देखकर सभी सिद्ध, चारण, गन्धर्व, देवता और ऋषि विस्मित हो जाते। वे उसे आँखें फाड़-फाड़ कर देखते। ऐसा विमान लोकपालों की आठों-पुरियों में से किसी में नहीं था। देवाङ्गनायें अपने पतियों से पूछती—"प्राणनाथ ! यह कौन इतनी सौभाग्यशालिनी ललना-रत्न है, जो अपने प्रियतम के साथ इस दिव्यातिदिव्य-विमान में विहार कर रही है। आकृति-प्रकृति से तो यह कोई मानवीय-महिला मालूम पड़ती है, किन्तु ऐश्वर्य में तो यह हम सबसे बढ़ी-चढ़ी है।"

देवता कहते—"ये भगवान् कर्दम मुनि की धर्मपत्नी हैं। भगवान कर्दम का प्रभाव अमित है। उन्होंने श्रीहरि की आराधना से वे सिद्धियाँ प्राप्त की हैं, जो किसी भी कर्म से प्राप्त नहीं हो सकतीं।"

इस प्रकार देवनाओं, सिद्धों और गन्धर्वों से वन्दित होते हुए–उनके द्वारा अपनी स्तुति सुनते हुए–महामुनि अपनी प्रिया के साथ एक वन से दूसरे वन में, दूसरे से तीसरे वन में विहार करने लगे। सर्वत्र उनका स्वागत ही होता। सभी उनको पुष्पांजलि भेंट करते। देव, गन्धर्व और सिद्ध आदि की कन्यायें उनके ऊपर पुष्प वृष्टि करतीं। पुष्पों से उनका विमान भर जाता और वे पुष्प उसी प्रकार नीचे गिरते, जिस प्रकार आकाश से वर्षा में बड़ी-बड़ी बूँदें अथवा ओले गिरते हैं।

इस प्रकार भगवान् कर्दम स्वर्ग के सभी—वैश्रम्भक, सुरसन, नन्दन, पुष्पभद्र, मानस तथा चैत्ररथ आदि दिव्य-काननों में बहुत काल पर्यन्त घूमते रहे। देवताओं के विमान, उनका ऐश्वर्य, उनकी प्रभा, कान्ति सभी कुछ महामुनि कर्दम से पिछड़ी-सी जाती। देवगण तो पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में आये हैं किन्तु ये तो भगवत् उपासना के प्रभाव से आये हैं। जिसके हृदय में भगवान् की भक्ति है, जिन्होंने पवित्र-चरित्र, पुण्यश्लोक, जगतमंगलकारी, भवभयहारी भगवान पुरुषोत्तम के पावन-पादपद्मों का आश्रय ग्रहण किया है, उनके लिये संसार में दुर्लभ वस्तु कौन-सी हो सकती है? उनके सामने स्वर्गीय सुख तुच्छ हैं। मुनिवर जिस लोकपाल की पुरी में जाते, वे ही उनके दर्शनों को आते। लोकपालों की पत्नियाँ, भगवती देवहूति के पादपद्मों में आकर प्रणाम करतीं। मुनि-पत्नी उन्हें गले से लगातीं और अत्यन्त स्नेह से कहतीं—"हम तो मृत्युलोक के जीव हैं, आप स्वर्ग की रमणियाँ हैं, तीनों लोकों के अधीश्वर लोकपालों की

पूजनीया-पत्नियाँ हैं। आपकी समता संसार में कौन कर सकता है ?"

वे सब विनयावनत होकर श्रद्धा से अंजलि बाँधे हुए निवेदन करतीं—"देवि! काहे के हम अधीश्वर हैं। आपके तनिक-से शाप से कीट-पतंग-योनियों में जा सकते हैं। संसार का समस्त ऐश्वर्य तो आपके अधीन है। हम सब तो विषय के कीड़े हैं। आपने अपनी अलौकिक उपासना के प्रभाव से अखिलेश को अपने वश में कर रखा है। आपके ऐश्वर्य के सम्मुख सभी का ऐश्वर्य फीका है।" इस प्रकार सभी लोकपाल-ललनाओं से सत्कार पाती हुई, देवहूति अपने पति की अप्रतिम-महिमा से भली-भाँति परिचित हो गयी।

चिरकाल तक महायोगी-भगवान कर्दम अपनी प्राणप्रिया पत्नी को, तीनों लोकों की अति आश्चर्यमयी चित्र-विचित्र रचनाओं को दिखाते हुए द्वीप, वर्ष, नद, नदी, समुद्र, कानन, अन्तरिक्ष सभी स्थानों में घूमते-घूमते सरस्वती तट के अपने उसी विन्दुसरोवर के समीप के आश्रम में आ गये। देवहूति की सभी इच्छायें पूरी हुईं। भूगोल देखने का उनका भारी कुतूहल शान्त हुआ। विद्याधरी और किन्नरियों के द्वारा सेवित वे संसार के उत्तम-से-उत्तम विषयों का भोग करने लगीं। अपने प्राणप्रिय की प्रसन्नता प्राप्त करके वे संसार में अपने को अत्यन्त भाग्यवती नारी समझती थीं। जिस पत्नी के ऊपर उसके प्राणेश्वर प्रसन्न हों उसके लिये संसार में कौन-सी वस्तु दुर्लभ है और उससे बढ़कर सुख और हो ही क्या सकता है। इन सबको देख लेने के पश्चात् अब उन्हें सन्तान की सर्वश्रेष्ठ कामना उत्पन्न हुई।

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! स्त्रियों को सुन्दर सन्तान की प्राप्ति से बढ़कर दूसरा और कौन-सा सर्वश्रेष्ठ सुख है ? देवहूति ने अपने पति के सम्मुख अपनी यह इच्छा प्रकट की

और भगवान् कर्दमजी ने उसके स्नेह के कारण उसकी वह भी इच्छा पूरी की।"

छप्पय

जहँ शुभ सुखद समीर सुगन्धित सब श्रमहारी।
मन्द-मन्द डरि बहै काल अनुरूप विचारी॥
कोकिल की कल कूँज गूँज मधुमय मधुकर की।
देवहूति है चकित लखै शोभा गिरिवर की॥
देव, सिद्ध, सुर वधुनि तैं, पूजित मुनि बिहरत भये।
निरखि निखिल भूगोल पुनि, निज आश्रम कूँ चलि दये॥

कर्दमजी को विराग

[१५६]

सर्वं तद्भगवान्मह्यमुपोवाह प्रतिश्रुतम् ।
अथापि मे प्रपन्नाया अभयं दातुमर्हसि ॥
ब्रह्मन्दुहितृभिस्तुभ्यं विमृग्याः पतयः समाः ।
कश्चित्स्यान्मे विशोकाय त्वयि प्रव्रजिते वनम् ॥*
(श्री भा० ३ स्क० २१ अ० ५१, ५२ श्लो०)

छप्पय

आये आश्रम लौटि सुरति सुख अतिशय दीन्हों ।
नवधा करि निज वीर्य यथा विधि थापित कीन्हों ॥
नव कन्यायें भईं उभय कुल यश विस्तारिनि ।
कमल गन्धमय देह जनक जननी सुखदायिनि ॥
बाल मरालिनि के सरिस, किलकें कूजें सुता सब ।
कुटुम बढ़त जब मुनि लख्यो, भयो उदित वैराग्य तब ॥

---

* नौ कन्याओं के उत्पन्न हो जाने पर वन जाने के लिये जाते हुए अपने पति से देवहूतिजी कहती है—'हे प्रभो ! आपने जो भी प्रतिज्ञा की थी, वह सब तो आपने पूरी कर दी, फिर भी मैं आपकी शरणागता हूँ, कुछ और निवेदन करना चाहती हूँ, उसके लिये आप मुझे अभय दान दें । देखिये ब्रह्मन् ! आप की ये नौ कन्यायें हैं, इनके अनुरूप आप को वर की खोज करनी चाहिये । इनका विवाह करके और मेरे लिये कुछ आधार छोड़कर ही आप वन जायँ । आपके परिव्राजक होने पर मेरे शोक को दूर करने के लिये कोई योग्य पुत्र भी होना चाहिये ।"

दुःख की घड़ियाँ कल्पों के समान लम्बी हो जाती हैं और सुख के सैकड़ों वर्ष क्षण के समान व्यतीत हो जाते हैं। काल की गति तो एक-सी ही है। वह प्राणियों के दुखों को देखकर शनैः-शनैः नहीं चलता सुखों को देखकर मुट्ठी बाँधकर भागता नहीं। उसकी चाल सुख-दुःख में समान है, किन्तु हम अपने मन से, अपनी भावना और सुविधानुसार शनैः और शीघ्र की सृष्टि करते हैं। सुख-दुख को भी हम मन से ही खड़ा कर लेते हैं। जिसने मन को वश में कर लिया, उसने संसार को वश में कर लिया। जो मन के अधीन हो गया, वह संसार में फँस गया। सुख-दुःख, बन्धन-मोक्ष आदि सभी का कारण मन है। जिन्होंने मन की गति के रहस्य को समझ लिया है, वे पहिले तो संसारी विषयों में फँसते ही नहीं। यदि प्रारब्धवसात्, भगवत् इच्छा से उन्हें किसी परिस्थिति में विषयों को स्वीकार करना भी पड़ता है, तो वे शीघ्र ही उनसे पृथक् भी हो जाते हैं। भगवान् के ध्यान में मग्न हो जाते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महामुनि कर्दमजी इस प्रकार अपनी प्रिया को इस आश्चर्यमय-भूगोल खगोल को दिखाते हुए, स्वर्गीय वन उपवनों की शोभा निहारते हुए सबको अपने दिव्यातिदिव्य ऐश्वर्य से चकित बनाते हुए अपने आश्रम में लौट आये। उन्होंने अपनी धर्मपत्नी को संसारी सुख देने में कुछ भी कोर-कसर नहीं छोड़ी। अनेक वर्षों तक वे उसके साथ रमण करते रहे। दोनों ने ही एक दूसरे को अपना हृदय अर्पित कर रखा था। दोनों ही यौवन के मद में मतवाले-से बने हुए थे। कब दिन हुआ, कब रात्रि हुई? उन्हें पता ही नहीं लगता था। इस प्रकार अनुराग में आसक्त हुए उन दम्पति के दिन क्षण के समान बीत रहे थे। क्रमशः मुनि के वीर्य द्वारा देवहूति के गर्भ से नौ कन्याओं का जन्म हुआ। वे सभी सुन्दरी, सुशील, चारु-

हासिनी थीं। उन सबके अंगों से दिव्य-कमल की-सी गन्ध सदा निकलती रहती थी, जिनकी सुवास से वह विमान सदा सुवासित बना रहता। वे अपनी तोतली वाणी से, बाल सुलभ चंचलता और चपलता से माता-पिता के मन को लुभाने लगीं। पुष्पों के समान हँसती हुई चारों ओर निकलती और कूदती हुई वे बच्चियाँ उस विमान में ऐसी लगती थीं, मानों समुद्र में छोटी-बड़ी रंग-बिरंगी मछलियाँ तैर रही हों। मुनि की गृहस्थी बढ़ने लगी। वे एक के बहुत हो गये। देवहूति अब जाया हो गई। मुनि के हृदय में तो वही भगवान् की छवि बसी थी। वे तो ब्रह्माजी की आज्ञा से भगवत् सेवा समझकर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए थे। वे तो निवृत्ति-धर्म के उपासक थे। प्रवृत्ति को तो उन्होंने लोक संग्रह के लिये स्वीकार किया था। जब उन्होंने देखा मेरी बच्चियों से घर भर गया है, सम्पूर्ण भवन उनके कलरव से गूँजता रहता है, देवहूति उन्हीं के लालन पालन में व्यग्र बनी रहती है, अपने भी मन की स्थिति कुछ फँसती हुई सी देखी, मन में कुछ मोह का-सा उठता हुआ अंकुर दिखाई देने लगा, तब तो मुनि को चेत हुआ—"अरे, मैं तो ठग गया। भगवान् की माया ने मुझे फँसा लिया। मैं तो विषयों के आधीन हो गया। गृहस्थी रूपी कीचड़ में फँस गया। माया मोह ने मुझे अपना किंकर बना लिया। अब अधिक दिन इस झंझट में फँसे रहना ठीक नहीं। इस विचार के आते ही उन्होंने देवहूति से कहा—"मानवि! मेरा वह कमण्डलु कहाँ है?"

उपेक्षा के स्वर में देवहूति बोली—"अब, इतने तो ये सोने-चाँदी के रत्न जटित बर्तन पड़े हैं। उस लौकी के तूँबे की कैसे याद आ गई? कहीं ऊपर पड़ा होगा।"

गम्भीर स्वर में भगवान् कर्दमजी बोले—"नहीं-नहीं, यह

बात नहीं, अभी उसे ढूँढ़कर लाओ और वह मेरी मूँज की मौंजी भी लाओ।"

देवहूति काँपती हुई चली गई। दो तीन कन्यायें भी उससे लिपट गयीं। किसी को पुकारती, किसी को प्यार करती, किसी को स्नेह से डाँटती हुई वह ऊपर चढ़ गई। छोटी बच्ची उसकी गोद में थी। ऊपर से कमंडलु उठा लाई, मूँज की मौंजी लड़की ने दोनों हाथों से पकड़कर मुँह में दे ली थी। इससे हँसती हुई वह अपने पति के समीप आई, कुछ व्यङ्ग स्वर में बोली, "लो, मिल गई आपकी यह निधि। आज कैसे इन बातों को याद आ गई?"

मुनि कुछ न बोले—उन्होंने दिव्य-रेशमी वस्त्र उतार कर फेंक दिया। मूँज का अगड़बन्ध पहिन लिया। केले की छाल की लँगोटी लगा ली। कमंडलु हाथ में ले लिया और खड़े होकर बोले—"मनुपुत्रो! जय-जय सीताराम! अपने राम तो अब चले, अब तुम सम्हालो इस गृहस्थी को।"

अब तक देवहूति हँसी समझ रही थी, विनोद से बातें कर रही थी, अब उसे चेत हुआ। अरे यह तो मुनि की बात सची है। मैं समझती थी कि य मेरे वश में हो गये। मेरे क्रीड़ा-मृग बन गय। मेरा ध्यान था—मैं जमूड़े की भाँति इन्हें जैसा नाच नचाऊँगी वैसा नाच नाचेंगे, जहाँ बिठाऊँगी वहीं बैठेंगे, जो कराऊँगी वही करेंगे, किन्तु यह मेरा कोरा भ्रम ही निकला। ये विरागी किसी के होते नहीं। "राजा किनके पाहुने, जोगी किनके मीत।" उसने लड़की को गोद से उतार दिया, रेशमी साड़ी को गले में लपेटकर घुटने टेककर हाथ जोड़े हुए हृदय से भयभीत होकर, ऊपर से मुस्कराती हुई बोली—"प्रभो! यह आपके अनुरूप ही है। किन्तु मुझ अबला की ओर भी तो कुछ ध्यान दें।"

विरक्ति स्वर में मुनि बोले—"देवहूति! संसार में सबल कौन है? सभी निर्बल हैं, निर्बल के बल राम हैं। तुम उन्हीं का आश्रय ग्रहण करो। संसारी सम्बन्ध तो क्षणभंगुर हैं। कौन किस पर कोप करता है, कौन कृपा करता है? करने कराने वाले तो वे श्रीहरि ही हैं। उन्हीं का आश्रय ग्रहण करो, वे समस्त चराचर जीवों का—असंख्यों ब्रह्माण्डों का—योगक्षेम करते हैं।"

दीनता के स्वर में देवहूति ने कहा—"स्वामिन्! यह तो सब सत्य है, किन्तु मेरे सर्वस्व तो आप ही हैं। स्त्रियों के तो पति ही परमेश्वर हैं! मैं आपकी शरणागता हूँ, मेरे कोई और अवलम्ब नहीं। अतः प्रभो! आप मुझे इस प्रकार अधर में छोड़कर अभी न जायँ।"

मुनि बोले—"देखो, मैंने तो तुम्हारे पिता के सम्मुख पहिले ही कह दिया था। तुम्हें स्मरण होगा, विवाह के पूर्व स्पष्ट शब्दों में मैंने कहा था, कि जब तक इसके सन्तानें न होंगी, तभी तक मैं इसके साथ रहूँगा। सन्तान होते ही मैं अपने मुख्य कार्य में लग जाऊँगा। विवाह तो मैंने ब्रह्माजी की आज्ञा से किया था, नहीं तो हम मोक्ष धर्मावलम्बी हैं। भगवान् वासुदेव के पादपद्मों के रस को पान करने वाले मत्त-मधुप हैं। अब एक नहीं तुम्हारे नौ-नौ सन्तानें हो गईं, उन्हें ही तुम पालो-पोसो, मैं अब भगवत् परिचर्या में अपना चित्त लगाऊँगा।"

माता-पिता की ऐसी बातें सुनकर लड़कियाँ इधर-उधर से आ गईं। आज अपने पिता का ऐसा विचित्र वेष देखकर लड़कियाँ हक्की-बक्की-सी रह गईं, वे बार-बार पिता के मुख को आश्चर्य के साथ देख रही थीं। अपनी माता को भी उनके सम्मुख घुटने टेके रोते हुए देखकर लड़कियों की आँखों में आँसू आ गये। छोटी-छोटी बच्चियाँ रोने लगीं। बहुत-सी बड़ी-सियानी-विवाह योग्य हो गई थीं, वे सब समझती थीं, इसलिये

वे भी बार-बार अपने आँसुओं को पोंछ रही थीं। रोते-रोते देवहूति ने कहा—"स्वामिन्! मैं आपको भगवत् आराधना से रोकती नहीं। आपका धन ही तप है। आपकी तपस्या के प्रभाव से ही तो मैं अपने को संसार में सर्वश्रेष्ठ सौभाग्यशालिनी समझती हूँ। मैं आप पर दोषारोपण भी नहीं करती। मेरे पिता के सम्मुख आपने जो भी प्रतिज्ञा की थी, वह सब आपने पूरी की। मुझे दिव्य सुख दिया, सन्तानें दीं, प्यार दिया, सर्वस्व दिया। किन्तु इस समय मेरी एक और भीख है, उसे और दीजिये। उसे देकर आप प्रसन्नता से वन में चले जायँ और सदा के लिये सर्वेश्वर की निश्चिन्त होकर आराधना करें।":

मुनि बोले—"तुम क्या चाहती हो?"

आँसू पोंछकर दीनता के साथ गद्गद् स्वर में देवहूति बोली—"प्रभो! मैं तो अबला ठहरी। अकेली गृहस्थी के कार्यों को कैसे कर सकती हूँ, स्त्री जाति ठहरी। ये लड़कियाँ सयानी हो गई हैं, सभी विवाह के योग्य हो चली हैं, इनके लिये योग्य वर खोजने मैं कहाँ जाऊँगी? मैंने तो आपके इस विमान से नीचे पैर नहीं रखा, इसी पर बिठाके आप मुझे तीनों लोकों में घुमा लाये। किस मुनि से प्रार्थना करूँगी? कौन मुझ अबला की बात सुनेगा? लड़कियों का विवाह न हुआ, तो आपकी ही अपकीर्ति होगी। इसलिये इन लड़कियों का तो योग्य वरों के साथ विवाह कर जाइये। और-और......।"कहते-कहते देवहूति रुक गई।

तब मुनि बोले—"और क्या? उस और को भी कह दो। उसे क्यों छिपाती हो?"

देवहूति ने कुछ लजाते हुए कहा—"महाराज! और कहने में मुझे लज्जा लगती है। देखिये, शास्त्रकारों ने स्त्रियों को स्वाधीनता पूर्वक स्वतन्त्र रहने का निषेध किया है। बाल्यकाल में वे माता-पिता, गुरुजनों के आधीन रहती हैं। विवाह होने पर

पति के आधीन और सन्तान होने पर पुत्र के आश्रय में। आप चले जायँगे तो मेरे सहारे को भी तो कोई चाहिये। फिर आप तो भगवत् आराधना के प्रभाव से संसार सागर से तर जायँगे, आपकी सहधर्मिणी और धर्मपत्नी कहा कर भी यदि मैं चौरासी के चक्कर ही में पड़ी रही, यह आपके लिये भी बड़े अपयश की बात है। अतः मेरे उद्धार का भी कोई उपाय सोचें। मेरे आश्रय का प्रबन्ध करके ही जायँ। ये लड़कियाँ तो दूसरे घर के लिये पाली-पोसी जाती हैं। इनके तो जहाँ पंख निकले कि फुर्र-फुर्र करके उड़ जाती हैं। फिर माता-पिता को भूल-सी ही जाती हैं। स्त्रियों के आश्रय तो पुत्र ही होते हैं जो किसी तरह जीवन भर निभाते हैं, मरने पर श्राद्ध तर्पण करके 'पुं' नामक नरक से उद्धार करते हैं। इसलिये बहुत नहीं एक पुत्र की और भिक्षा है।"

पुत्र का नाम सुनते ही मुनिवर कर्दमजी को भगवान् के वरदान की याद आ गई और बड़े स्नेह के साथ हँसते हुए बोले—"अभी तुम्हारा सन्तानों से पेट नहीं भरा क्या ?"

देवहूति ने लजाते हुए कहा—"महाराज ! तृष्णा कभी शान्त थोड़े ही होती है। धन-सन्तानों से आज तक किसी की तृप्ति हुई है ? किन्तु अब मैं लोभवश नहीं, मुक्ति की कामना से पुत्र चाहती हूँ। किन्तु भगवान् की कैसी विचित्र माया है आप जैसे समस्त ऐश्वर्य और सिद्धियों के स्वामी पति को पाकर भी मैं विषय-भोगों ही में फँसी रही। आपसे मुक्ति सम्बन्धी प्रश्न भी नहीं किया। फिर भी कैसे भी हो, सत्सङ्ग तो हुआ ही। जैसे अनजान में भी विष खाने से पुरुष मर जाता है और भूल में अमृत पीने पर भी अमर हो जाता है, उसी प्रकार आपका अमोघ-सत्संग व्यर्थ तो होना नहीं चाहिये। अतः मेरा यह जीवन सार्थक होना चाहिये। जीवन की सार्थकता इसी में है, कि इस शरीर से

महापुरुषों की यथाशक्ति सेवा हो सके और जो भी कार्य किये जायँ, भगवान् की प्रीति के निमित्त, संसार से वैराग्य उत्पन्न करने के ही निमित्त हों। माया के चक्कर में पड़ कर मैंने ऐसा नहीं किया, मेरी भूल अब ठीक हो जाय, अब मैं विवेक वैराग्य से युक्त होकर भक्ति के साथ उन सर्वान्तर्यामी-अखिलेश की आराधना में तल्लीन हो जाऊँ।"

अपनी पत्नी के ऐसे विवेक वैराग्य पूर्ण वाक्य सुनकर कर्दम मुनि को बड़ा सन्तोष हुआ। उसे सान्त्वना देते हुए वे बोले—"हे मनुनन्दिनी! हे अनन्दिते! हे अनघे! स्वायंभुव-मनु की पुत्री के अनुरूप ही वचन हैं—तुम घबराओ नहीं। तुम्हारी दुर्गति नहीं होगी। मेरा सत्सङ्ग कभी निष्फल न जायगा। तुम चौरासी के चक्कर में कभी भूलकर न फँसोगी। मैं तुम्हें पुत्र दूँगा। ऐसा वैसा पुत्र भी नहीं। स्वयं साक्षात् श्रीमन्नारायण ही तुम्हारी भक्ति से सन्तुष्ट होकर पुत्र रूप में तुम्हारे गर्भ से अवतीर्ण होंगे। तुम अवतार-जननी और जगन्माता कहलाओगी। संसार में तुम्हारी कीर्ति तब तक गाई जायगी, जब तक पंचभूत और सूर्य-चन्द्र रहेंगे।"

अत्यन्त हर्ष के स्वर में देवहूति ने कहा—"प्रभो! मैं इस सौभाग्य के योग्य अपने को नहीं समझती। मैं तो एक मूढ़-अबला हूँ. साक्षात् विश्वम्भर को अपने उदर में कैसे धारण करूँगी. जो असंख्यों ब्रह्माण्डों को अपने उदर में रखे हुए हैं। चींटी, सुमेरु को कैसे अपने सिर पर रख सकती है?"

अत्यन्त प्रसन्नता के साथ कर्दम मुनि बोले—"देवि! तुम मेरे वचनों पर विश्वास करो। तुम अपनी सामर्थ्य से उन्हें धारण नहीं कर सकतीं। जब वे कृपा करके तुम्हारे गर्भ में पधारेंगे, तो धारण करने की सामर्थ्य भी वे स्वयं देंगे। वरदान देते समय स्वयं साक्षात् श्रीमन्नारायण ने अपने श्रीमुख से ही

मुझे आशा बँधाई थी, कि मैं अपने अंश से तुम्हारे वीर्य द्वारा देवहूति के गर्भ से प्रगट हूँगा।"

प्रसन्नता से जिसका मुख-मंडल दमक रहा था, ऐसी देवहूति अपने को सम्हाल कर रुक-रुककर बोली—"तब प्रभो! मुझे क्या करना होगा? कौन-सा संयम, नियम, व्रत, उपवास करना होगा? जो-जो मेरा कर्तव्य हो उसका मुझे भली-भाँति उपदेश करें।"

भगवान् कर्दम बोले—"देवि! जिसने पति-सेवा न की हो, नाना व्रतों का पालन न किया हो, सर्वात्मभाव से सर्वेश्वर श्रीहरि की आराधना न की हो उसके यहाँ भगवान् का प्राकट्य हो नहीं सकता। तुम्हारे जन्म-जन्मातरों के बड़े पुण्य हैं, जो तुम्हें ऐसा देव दुर्लभ-सौभाग्य प्राप्त होगा। अब तुम सावधानी के साथ समस्त इन्द्रियों का दमन करो, अतिथि-अभ्यागतों का, अंधे, लंगड़े, भूखे, दरिद्रियों और दुखियों को अन्नदान करो, सत्पात्रों को विविध भाँति के मणि-माणिक्य दो, सबकी कामना पूरी करो, नियम से रहो, तपस्या करो। शीघ्र ही भगवान् तुम्हारे गर्भ में प्रवेश करेंगे।"

देवहूति ने कहा—"फिर महाराज! मेरा संसारी बन्धन कैसे छूटेगा?"

शीघ्रता से मुनि बोले—"अब भी संसार-बन्धन रह गया क्या? अरे जब साक्षात् श्रीहरि ही आ गये, तब संसार कैसे रहेगा? सूर्य के उदय होने पर अन्धकार रह सकता है? रात्रि बीतने पर तारे प्रकाशित हो सकते हैं? गंगाजी में घुसने पर पापों का अस्तित्व क्या सम्भव है? श्रीहरि प्रकट होकर तुम्हारे सभी संशयों का छेदन करेंगे। लोक में तो माता-पिता, पुत्र को उपदेश देते हैं, किन्तु तुम्हारा पुत्र ही तुम्हें उपदेश देगा। वह तुम्हें निमित्त बनाकर संसार भर के लिये उपदेश देगा, उससे तुम

तो तर ही जाओगी, उसे श्रवण-मनन करके असंख्यों प्राणियों का भी उद्धार होगा। वे भी बाद में भगवान् की माया से पार हो जायँगे।"

मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी! अपने पति की ऐसी बातें सुनकर देवहूति परम प्रसन्न हुई और पति के बताये हुए नियमों का सावधानी के साथ पालन करने लगीं।"

छप्पय

गह्यो कमण्डलु हाथ चले तप हित मुनि बनकूँ।
कच्ची-गृहथी निरखि तपस्विनि के दुख मनकूँ॥
अञ्जलि बाँधे डरपि विनय युत बोली बानी।
करी प्रतिज्ञा पूर्ण महामुनि हौं अब जानी॥
किन्तु प्रभो! पुत्रीनिकूँ, योग्य वरनितें व्याहिकें।
कछु अवलम्बन छाँड़ि पुनि, करहिँ तपस्या जाइकें॥

भगवान् कपिलदेव का अवतार

(१६०)

देवहूत्यपि मन्देश गौरवेण प्रजापतेः ।
सम्यक् श्रद्धाय पुरुषं कूटस्थममजद्गुरुम् ॥
तस्यां बहुतिथे काले भगवान्मधुसूदनः ।
कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० २४ अ० ५-६ श्लो०)

छप्पय

आई वर की यादि कमण्डलु धरि पुनि दीन्हों ।
मुनि दयार्द्र ह्वै गये दूरि दयिता दुख कीन्हों ॥
बोले—"भामिनि ! दुःख शोक चिन्ता तजि डारो ।
गर्भ माँहिँ तव प्रकट होहिँ हरि शुभ व्रत धारो ॥
हर्षित ह्वै तप व्रत करहिँ, हरि प्रसन्न अतिशय भये ।
उपजे अरणी तें अनल, त्यों प्रभु परगट ह्वै गये ।

रज-वीर्य्य से शरीर बनता है। संस्कारों से अन्तःकरण

---

* मैत्रेयमुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी ! देवहूति ने बड़े गौरव और श्रद्धा सहित प्रजापति कर्दम भगवान् की आज्ञा को स्वीकार किया। वह कूटस्थ-जगत् गुरु भगवान् परम-पुरुष की आराधना करने लगी। इसके अनन्तर बहुत काल बीत जाने पर मधुसूदन भगवान् कर्दम मुनि के वीर्य्य का आश्रय लेकर मुनि पत्नी के गर्भ से उसी प्रकार प्रकट हुए, जिस प्रकार ईंधन का आश्रय लेकर अग्नि प्रकट होती है।"

बनता है। गर्भाधान के समय माता-पिता के जैसे संस्कार होंगे सन्तान में भी बीज रूप से वैसे ही संस्कार होंगे। वे ही संस्कार जातिकरण, नामकरण आदि संस्कारों के द्वारा परिपुष्ट और दृढ़ बनाये जाते हैं। इसलिये वर्णाश्रम धर्म में संस्कार तथा रज-वीर्य को शुद्धि पर अत्यधिक बल दिया गया है। ऐसी कन्या के साथ विवाह करो, उसका कुल ऐसा हो, उस कुल में दुराचार न हो, शुद्ध कुल हो। अपना भी कुल शुद्ध हो। शुद्ध संस्कारों के द्वारा वेद-मन्त्रों से गर्भाधान करो. अमुक-अमुक तिथियों में अमुक काल में मत करो। इन सबका एकमात्र उद्देश्य है भावी सन्तान के शुद्ध संस्कार बनाना। जो पाप की सन्तान है, जिनका गर्भाधान अवैध-रीति से हुआ है, वे सन्तानें प्रायः पाप प्रवृत्ति वाली ही होंगी, क्योंकि माता-पिता दोनों के संस्कार पाप पूर्ण थे। उनकी परमार्थ कार्यों में रुचि न होगी। विषय सुखों को ही सर्वस्व समझ कर धर्म से, अधर्म से उन्हें ही पाने के लिये जीवन पर्यन्त प्रयत्नशील होंगी। इसीलिये तो कलियुग में वेद, सत्-शास्त्र, परमार्थ-पथ प्रायः लुप्त हो जाते हैं, क्योंकि सबकी प्रवृत्ति अधर्म में हो जाने से रज-वीर्य की शुद्धि पर ध्यान नहीं दिया जाता। गम्या-गमन का विचार नहीं, संस्कारों की पवित्रता नहीं, विषय भोगों का प्राबल्य होने से स्वेच्छाचार बढ़ जाता है।

भगवान् जिस दम्पति को निमित्त बनाकर अवतीर्ण होना चाहते हैं, वे साधारण दम्पति तो होते नहीं। जन्म जन्मान्तरों के असंख्यों पुण्यों से, शुभ कर्मों से, विविध-धर्मों के आचरणों से ऐसा सौभाग्य प्राप्त होता है। यद्यपि श्रीहरि कर्मों के अधीन नहीं हैं। न तो कर्म भोगों को भोगने के लिये ही अवतीर्ण होते हैं और न उन्हें कोई पुण्य कर्म विविध-धर्मों के द्वारा प्राप्त ही कर सकता है। उनकी प्राप्ति का एकमात्र कारण तो उनकी कृपा ही है। किस पर वे कृपा कर दें, कहाँ अवतीर्ण हों, किसे दर्शन दें,

इन बातों को उनके अतिरिक्त कोई जान ही नहीं सकता। फिर भी सिंहिनी का दूध सुवर्ण के ही पात्र में टिकता है। भगवान् भी तपः—पूत, धर्माचरण में निरत, परम पुण्यात्मा, महान् संस्कारी, श्रेष्ठ सदाचारयुक्त दम्पति के यहाँ ही अवतरित होते हैं जो उनकी कृपा के भाजन बन चुके हैं। जिस पति-पत्नी को वे अपने जन्म का निमित्त बनाते हैं, उनकी वैसे तो आरम्भ से ही धर्म में प्रवृत्ति होती है, किन्तु अवतरण के समय तो उनका मन सदा श्रीहरि के चरणों में ही लगा रहता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब भगवती देवहूति ने अपने पति से यह बात सुनी कि उसके यहाँ साक्षात् श्रीहरि अवतीर्ण होंगे, तब तो वे बड़े ही संयम, नियम से रहने लगीं। जन्म कर्म से रहित, निरंजन, निर्विकार, जगत्-गुरु परात्पर-पुरुषोत्तम मुझे दर्शन देंगे, मेरे गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न होंगे, यह स्मरण आते ही उनके रोम-रोम खिल गये और सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, उन्हीं अचिन्त्य-शक्ति वाले सर्वेश्वर का ध्यान करने लगीं। इस प्रकार श्रद्धा संयम से रहते हुए निरन्तर पुराण-पुरुष का ध्यान करते हुए उन्हें बहुत समय व्यतीत हो गया।"

अब भगवान् के प्राकट्य का काल उपस्थित हुआ। प्रथम भगवान् ने संकल्प रूप से प्रजापति-कर्दम के वीर्य में प्रवेश किया। फिर जिस प्रकार अधरारणि-उत्तरारणि के संघर्ष से अग्निदेव उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार भगवती देवहूति के गर्भ से साक्षात् श्रीहरि कपिलरूप से अवतीर्ण हुए। भगवान के जन्म के समय सर्वत्र आनन्द छा गया। चराचर जीव सुखी हुये, विशेष कर मुमुक्षु और ज्ञानियों को परम आनन्द हुआ, क्योंकि यह 'ज्ञानावतार' ही था। लुप्त हुए सांख्य-ज्ञान के प्रचार के निमित्त ही भगवान् ने यह कपिल रूप धारण किया था। उस समय देव-

ताओं ने उनके ऊपर पुष्प वृष्टि की, आकाश में गन्धर्व गाने लगे—देवता दुन्दुभी बजाने लगे, अप्सरायें नृत्य करने लगीं। मेघ अपनी गड़गड़ान-तड़तड़ान से प्रसन्नता प्रकट करने लगे। मुमुक्षुओं के मन में स्वाभाविक प्रसन्नता छा गई। प्रसन्नता के कारण समुद्रों का जल उमड़ने लगा, अग्निहोत्र की अग्नियाँ स्वतः ही प्रज्वलित हो उठीं। दशों दिशाओं में आनन्द छा गया, प्राणिमात्र का हृदय भर गया।

पुत्र से बढ़कर पौत्र की उत्पत्ति पर प्रसन्नता होती है! ब्रह्माजी ने जब देखा, कर्दमजी के साधारण पुत्र ही नहीं हुआ है, स्वयं साक्षात् श्रीमन्नारायण ही पुत्र रूप में उनकी पुत्रवधू के गर्भ से अवतीर्ण हुए हैं—तब वे बहुत शीघ्रता पूर्वक ब्रह्मलोक से कर्दम मुनि के आश्रम की ओर चले। वे अपने चारों सिरों पर चमचमाते हुए दिव्य चार मुकुट धारण किये हुए थे। कमण्डलु, पोथी-पत्रा लिये हुए वे हंस को शीघ्रता से चलने का निर्देश कर रहे थे। उन्हें इस प्रकार व्यग्रता से जाते देखकर उनके जो नौ मानसपुत्र थे, वे बड़ी उत्सुकता से बोले—"प्रभो! आप इतनी शीघ्रता से कहाँ जा रहे हैं?"

भगवान ब्रह्मा, विस्मय का भाव प्रकट करते हुए बोले—"अरे तुम लोगों को कुछ पता ही नहीं। मेरी छाया से उत्पन्न मेरे समान पुत्र प्रजापति-कर्दम के यहाँ स्वयं साक्षात् श्रीहरि प्रकट हुए हैं। वे सबकी मनोवांछा को पूर्ण करने वाले हैं। उनके सम्मुख बिना छल कपट या निर्मल और निष्कपट होकर जो जिस भावना से जायगा, उसकी वह भावना तत्क्षण पूरी होगी।"

इन सब मुनियों का मन, भगवान् की प्रेरणा से प्रवृत्ति धर्म स्वीकार करने में-विवाह करने में-लगा था। उन्होंने मन में सोचा—"यदि हमारा विवाह हो जाय तो हम भी भगवान ब्रह्माजी के साथ श्रीहरि के दर्शनों के लिये चलें।"

घट-घट की जानने वाले भगवान् ब्रह्माजी उनके भाव को ताड़ गये और शीघ्रता से बोले—"हाँ, हाँ, तुम लोग भी मेरे साथ चलो, मंगलमूर्ति—मधुसूदन तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करेंगे। तुम सबकी वांछा को पूरा करेंगे। इतना सुनते ही वे नौ महर्षि भी ब्रह्माजी के साथ चल दिये।"

भगवती सरस्वती से घिरे हुए बिन्दु-सरोवर के समीप महामुनि कर्दम का दिव्य-आश्रम था। भगवान् के प्रेमाश्रुओं से निर्मित यह तीर्थ, प्राणियों के समस्त अशुभों को नाश करने वाला था। महामुनि कर्दम, भगवान् के जन्मोत्सव की तैयारियाँ कर रहे थे कि इतने में ही उन्हें आकाश से उतरते हुए महर्षियों के सहित भगवान् ब्रह्मा दिखाई दिये। यह देखकर वे बड़ी ही प्रसन्नता के सहित उठकर खड़े हो गये। भूमि में लोटकर उन्होंने लोक पितामह-चतुरानन के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया। तदनन्तर अन्य ऋषि-महर्षियों का भी यथायोग्य स्वागत-सत्कार किया। कर्दमजी की, की हुई पूजा को मुनियों सहित यथावत् स्वीकार करके हँसते हुए ब्रह्माजी बोले—"वत्स कर्दम! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। तुमने ही यथार्थ में मेरी सच्ची सेवा की। इस बाह्य-पूजन की अपेक्षा मैं आज्ञा पालन रूपी आन्तरिक पूजन को सर्व-श्रेष्ठ समझता हूँ।"

हाथ जोड़े हुए विनीत भाव से महामुनि कर्दम बोले—"महाराज! हमसे तो आपकी कुछ सेवा बन ही न सकी। आपने तो हमें इस गृहस्थी रूपी झंझट में ऐसा फँसा दिया कि हम तो सेवा सुश्रूषा सब कुछ भूल गये। इसी नौन तेल और बच्चे-बच्चों की चिन्ता में लगे रहे।"

यह सुनकर ब्रह्माजी बोले—"अरे, भैया! शारीरिक-सेवा ही सेवा थोड़े ही है। अपने पिता, गुरु जो भी आज्ञा दें, उसे बिना ननु-नच किये श्रद्धा सहित पालन करना यही सबसे श्रेष्ठ सेवा

है। तुमने मेरी आज्ञा का निष्कपट-भाव से पालन किया है। मुझे सृष्टि रचना में आशातीत सहयोग प्रदान किया है, यह तुम्हारी सर्वोत्तम सेवा है।"

ब्रह्माजी यह कह ही रहे थे, कि महामुनि कर्दम की नौ की नौओं पुत्रियों ने आकर लोक पितामह को प्रणाम किया। अत्यंत स्नेह के साथ बच्चियों के सिर पर प्यार से हाथ फेरते हुए ब्रह्माजी बोले—"ये तुम्हारी लड़कियाँ बड़ी सुशीला हैं, बहुत सरल स्वभाव की हैं।"

कर्दमजी ने कहा—"क्या करूँ भगवन्! ये सब-की-सब विवाह योग्य हो गई हैं, इन सबकी मुझे बड़ी चिन्ता रहती है। मैं चाहता हूँ इनके अनुरूप ही वर मिल जायँ तो इनका भविष्य जीवन-सुखमय हो सके। अब मुझे इन बच्चियों की ही एक चिन्ता और शेष है कि ये अपने-अपने घर चली जायँ, इनके हाथ पीले कर दूँ तो मानों मैं गृहस्थी के सभी कृत्यों से निर्मुक्त हो चुका।"

ब्रह्माजी हँसते हुए बोले—"तुमने इतने दिन भगवान् की आराधना की है। उनका साक्षात्कार किया है, उनसे दुर्लभ-वर भी प्राप्त किया है, फिर भी तुम चिंता करते हो। जो देव, विश्वम्भर हैं, जिन्हें चींटी से लेकर मेरे कार्य तक की चिन्ता है, जो सबका समय पर योगक्षेम चलाते हैं, वे क्या तुम्हारे कामों को भूल जायँगे? भगवान अपने भक्तों का कार्य स्वयं करते हैं। कितनी हैं ये सब तुम्हारी कन्यायें?"

कर्दमजी बोले—"महाराज! सबकी सब सम्मुख ही तो हैं, पूरी की पूरी सेना है। 'नवग्रहों' की तरह ये नौ-की-नौ मुझे घेरे हुए हैं।"

आये हुए नौ ऋषियों का मन उन कन्याओं के शरीर से निकली हुई कमल की गन्ध के कारण लुभा रहा था। ब्रह्माजी

तो सब समझ सोचकर ही उन्हें अपने साथ लाये थे। अतः वे बोले—"देखो, ये नौ ऋषि हैं, इनके साथ तुम अपनी कन्याओं का विवाह कर दो।"

कर्दमजी ने कहा—"महाराज! मेरा बड़ा सौभाग्य है, घर बैठे वर मिल गये। सो भी एक दो नहीं पूरे नौ-के-नौ। अब यह आज्ञा कीजिये किस ऋषि को कौन-सी कन्या दूँ ?"

ब्रह्माजी शीघ्रता से बोले—'भैया! इसे तुम लोग आपस में ही सुलझा लो। तुम्हें जो मुनि जिस कन्या के अनुरूप जान पड़े या जो मुनि जिस कन्या को वरण करें, उसी के साथ कर दो। अच्छी बात है, यह सब तो पीछे करते रहना। चलो, तुम्हारे यहाँ पुत्र रूप में जो परमात्मा प्रकट हुए हैं, उनके दर्शन तो हमें और कराओ। मैं बहुत-सा कार्य छोड़कर आया हूँ, मुझे बहुत शीघ्रता है। चौदहों भुवनों का-पूरे ब्रह्माण्ड का-काम देखना है।"

ब्रह्माजी की ऐसी बात सुनकर महामुनि कर्दमजी आदर के साथ लोकपितामह को अपनी पत्नी के भवन में ले गये। पितामह को आते देखकर देवहूति घूँघट काढ़ने लगी, लजाकर वह एक ओर प्रणाम करके खड़ी हो गई। तब ब्रह्मदेव बोले— "अरी बेटी! अब घूँघट का क्या काम ? अब तो तू हमारी भी पूजनीया हो गयी। जो मेरे तथा सम्पूर्ण जगत के पिता हैं, वे ही जब आकर तेरे पुत्र बन गये तब तू जगन्माता बन गई। देख ये किसी के पुत्र नहीं हैं, साक्षात् वैकुण्ठाधिपति-श्रीहरि हैं! तू देखती नहीं इनके केश कैसे नील वर्ण के हैं। कमल के समान खिले हुए सुन्दर विशाल नेत्र, वज्र-अंकुश-ध्वजादि चिन्हों से चिन्हित छोटे-छोटे नवीन पीपल के पत्ते के समान कोमल चरण ये सब भगवत्ता के चिन्ह हैं। ये शास्त्र-ज्ञान और अनुभव-ज्ञान के द्वारा सभी के संशयों का मूलोच्छेद करेंगे।"

घूँघट की ओट में, बड़ी लड़की द्वारा देवहूतिजी ने कहलाया—"महाराज ! सबका संशय तो छेदन करेंगे, मैं ऐसी की ऐसी ही अब अज्ञ बनी रहूँगी क्या ? कुछ मेरे ऊपर भी तो कृपा होनी चाहिये।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँसे और बोले—"अरी बेटी ! सर्वप्रथम ये तुझे ही उपदेश देकर संसार-सागर से पार करेंगे, ये सिद्धगणों के अधीश्वर और सांख्याचार्यों के स्वामी होंगे। तेरी कीर्ति को ये अमर बनायेंगे। तुम दोनों ने तपस्या और वैराग्य के द्वारा इन्हें प्रकट किया है, अतः ये त्यागी-विरागी के रूप में विचरेंगे।"

लजाते हुए देवहूति ने कहा—"तब तो महाराज, बड़े आनन्द की बात है। किन्तु पञ्चाङ्ग देखकर इनका नामकरण तो कर दें।"

यह सुनकर ब्रह्माजी खिल-खिलाकर हँस पड़े और बोले—"अरी बेटी ! तू कैसी भोली-भाली बातें कर रही है ? इनका कोई एक नाम हो तो बता दूँ। इनके तो अनन्त नाम हैं। असंख्यों-नामों से ये पुकारे जाते हैं, फिर भी संसार में ये 'कपिल' इस नाम से प्रसिद्ध होंगे और तेरे यश को संसार में विख्यात करेंगे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इस प्रकार लोक पितामह भगवान् ब्रह्मा, दोनों पति-पत्नियों को समझाकर भली-भाँति आश्वासन देकर अपने हंस पर चढ़कर फुर्र-फुर्र करते हुए ब्रह्मलोक की ओर उड़ गये।"

—o—

छप्पय

प्रकटे प्रभु परमेश । पितामह सुनि तहँ आये ।
अत्रि-अङ्गिरा-पुलह आदि नव ऋषि सँग आये ॥
कर्दम निरखे पिता यथा विधि स्वागत कीन्हों ।
ऋषि सँग पूजा करी सबनिकूँ आसन दीन्हों ॥
करहु ब्याह तनयानि को, विधि बोले इन ऋषिनि तें ।
कपिल रूप धरि पुत्र बनि, हरि आये निज बरनि तें ॥

कपिलजी की स्तुति

[१६१]

परं प्रधानं पुरुषं महान्तम्
कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम् ।
आत्मानुभूत्यानुगतप्रपंचम्
स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये ॥*
(श्री भा० ३ स्क० २४ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

विधि आज्ञा सिर धारि ऋषिनिकूँ कन्या दीन्हीं ।
वैदिक विधि तें ब्याह करे विनती बहु कीन्हीं ॥
सब ऋषि पत्नी लईं चले हिय हरिकूँ सुमिरत ।
कर्दम चिन्ता मिटी भयो मन अतिशय हरषित ॥
गृही बने सब सुख लहे, हरि प्रकटे, कन्या दईं ।
करुणाकर की कृपा तें, सब इच्छा पूरन भईं ॥

भोगों में सुख तभी तक प्रतीत होता है, जब तक उनमें थोड़ी बहुत आसक्ति हो, जहाँ विषयों में से आसक्ति हटी, कि वे ही

---

* महामुनि कर्दमजी कपिल भगवान् की स्तुति करते हैं—'जो परमात्म स्वरूप, प्रकृति और पुरुष स्वरूप तथा महत्तत्व, काल, ब्रह्मा, त्रिविध-अहङ्कार तथा लोकपाल स्वरूप है, सम्पूर्ण प्रपञ्च, चेतनाशक्ति के द्वारा जिनमें समाया हुआ है, ऐसे स्वच्छन्द शक्ति वाले भगवान् कपिल को प्रणाम करता हूँ।"

विषय विषवत् प्रतीत होने लगते हैं। आसक्ति के आधार पर ही यह संसार प्रपञ्च चल रहा है। जहाँ संसार से वैराग्य हुआ कि फिर संसार नाशवान्, क्षणभंगुर, अनित्य और मिथ्या प्रतीत होने लगता है। आत्मा के सम्बन्ध से हम इस शरीर में नाना प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यह मेरा पिता है, पुत्र है, पति है, सम्बन्धी है इत्यादि। जहाँ जीवात्मा इस शरीर से पृथक् हुआ, तहाँ सब सम्बन्ध टूट जाते हैं। शरीर बुरा लगने लगता है, शीघ्र-से-शीघ्र उसे घर से बाहर करने के लिये व्यग्र हो जाते हैं। जिन अंगों को देखकर सम्बन्धी सिहाते थे, आज वे सब भयानक दिखाई देने लगते हैं। जिन्हें इन विषयों की अनित्यता का ज्ञान हो गया है, उन्हें फिर संसारी-झंझटों में फँसा रहना भार-सा प्रतीत होता है। कर्तव्य-वश कुछ दिन और रहना ही पड़े, तो वे दिन गिनते रहते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब महामुनि कर्दम के यहाँ भगवान् कपिल का प्रादुर्भाव हो गया, और ब्रह्माजी उन दोनों-पति-पत्नियों को समझा-बुझाकर चले गये तथा आज्ञा दे गये कि, इन ऋषियों के साथ अपनी कन्याओं के विवाह कर दो, तब उन्होंने ऐसा ही किया। उनकी कला, अनसूया, श्रद्धा, हविर्भू, गति, क्रिया, ख्याति, अरुन्धति और शान्ति ये कन्यायें थीं। इसलिये उन्होंने क्रमशः नौ की नौओं ऋषियों को दीं। प्रजापति भगवान्-मरीचि के साथ कलादेवी का विवाह कर दिया। अत्रिमुनि ने भगवती अनसूया का पाणिग्रहण किया, जिनके यहाँ भगवान्-दत्तात्रेय के रूप में प्रकट हुए और जिनका पतिव्रत धर्म संसार में विख्यात है। अंगिरा मुनि का श्रद्धादेवी के साथ गठबन्धन हुआ, जिस श्रद्धा से रहित होकर किया हुआ कोई भी कार्य सफल और श्रेष्ठ नहीं समझा जाता है, भगवान् पुलस्त्य के साथ हविर्भूदेवी का विवाह हुआ, जिनके वंश में क्रूर

कर्मा-राक्षस हुए। पुलह ऋषि ने गति देवी को स्वीकार किया, जिनसे इस संसार की स्थिति है। गति न हो तो सब अगति हो जायँ। क्रियादेवी को भगवान् क्रतु को दिया, जिस क्रिया के सहारे ही समस्त यज्ञादिक कार्य होते हैं। प्रजापति भगवान् भृगु के साथ ख्यातिदेवी का विवाह हुआ, जिस ख्याति के लिये संसार के सभी प्राणी लालायित रहते हैं। इसी वंश में भगवान् परशुराम का अवतार हुआ। भगवान् वसिष्ठ को महामुनि कर्दम ने अरुन्धती देवी को दिया, जो पतिव्रताओं में श्रेष्ठ हैं जो अब भी सप्तर्षियों के तारों के बीच आकाश में अपने पति के साथ प्रकाशित हुई दिखाई देती हैं। ये ही भगवान् वसिष्ठ, सूर्यवंश के पुरोहित हुए। अथर्वा मुनि के साथ शान्ति देवी का विवाह किया, जिनके द्वारा यज्ञादि सभी कार्यों का विस्तार किया जाता है। जिन कार्यों में शान्ति नहीं वे कर्म व्यर्थ हैं इसलिये समस्त ऋषि, सम्वाद के अन्त में तीन बार शान्ति-शान्ति-शान्ति का उच्चारण करते हैं।

अपने-अपने अनुकूल पति पाकर कन्याओं को बड़ा हर्ष हुआ! ऋषिगण भी कृतकार्य हो गये, उन्हें भगवान् के दर्शनों का प्रत्यक्ष फल मिल गया। कहाँ तो वे सहस्रों-वर्षों की समाधि लगाकर भगवान् की तनिक-सी झाँकी को लालायित रहते थे, कहाँ अब उनसे प्रगाढ़ सम्बन्ध जुट गया। जीव, व्यर्थ ही चिन्ता करता है! अश्रद्धावश इधर-उधर भटकता रहता है जहाँ भगवान् की शरण में गया नहीं, कि उसके समस्त मनोरथ सफल हो जाते हैं। फिर उसे अन्यत्र कहीं याचना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। कल्पतरु के नीचे जाकर लोग मुक्ति ही प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु कृष्ण कल्पतरु की छाया में भुक्ति-मुक्ति दोनों ही हाथ जोड़े खड़ा रहती हैं। भगवद् भक्त, मुक्ति तक को भी भगवान् की सेवा के बिना नहीं चाहते। किन्तु भगवान् के

समीप भी तो वही जा सकता है जिन पर वे कृपा करें। वे प्रभु, मात्र कृपा के ही द्वारा प्राप्त होते हैं। अतः सदा सर्वदा उनकी कृपा की ही प्रतीक्षा करनी चाहिये।

इस प्रकार महामुनि कर्दम, कन्याओं का विवाह करके गृहस्थ की इस सबसे बड़ी चिन्ता से मुक्त होकर निश्चिन्त हो गये, अब उन्हें कुछ भी करने को शेष नहीं रहा।

गृहस्थ की सबसे बड़ी अभिलाषा होती है, कि उनके यहाँ पुत्र जन्म हो जो मरने पर श्राद्ध, तर्पण और पारलौकिक कार्य करे, नरक में पड़े हुए पितरों को उबारे, वंश की परम्परा अक्षुण्ण बनाये रखे। कर्दमजी के यहाँ पुत्र-रत्न का भी जन्म हुआ। पुत्र भी साधारण नहीं–स्वयं साक्षात् निर्गुण निराकार श्रीहरि ही सगुण साकार स्वरूप बनाकर अवतीर्ण हुये! यह स्मरण आते ही उनका हृदय भर आया। वे प्रेम भरित अन्तःकरण से उन्हीं कपिल भगवान् की शरण में गये।

कुछ काल के अनन्तर कपिल भगवान् बड़े हो गये। उनमें बाल सुलभ चंचलता नहीं थी। बाल्यकाल से ही वे शान्त, गम्भीर और मननशील थे। पहरों तक बन प्रदेश के एकान्त स्थानों में बैठकर इन तत्वों का विवेचन करते रहते। प्रकृति पुरुष के गूढ़तम रहस्यों पर विचार करते रहते।

एक दिन सघन वन के घोर प्रदेश में विशाल-वट वृक्ष की शीतल छाया में, मुनि ने अपने पुत्र को ध्यान मग्न बैठे देखा! उनकी छोटी-छोटी लटायें वायु से बिखर रहीं थीं। कमल के समान खिले हुए नयन खुले थे, मुख मण्डल पर अद्‌भुत दैवी-शक्ति विराजमान थी। वे पद्मासन से बैठे हुए थे और किसी गम्भीर विषय के विचारों में निमग्न थे। महामुनि कर्दम ने जब भगवान्-कपिल को इस भाँति एकान्त में विराजमान देखा तब तो उनके हर्ष का पारावार नहीं रहा। वे ऐसे ही अवसर की

खोज में थे। उनका मन अब गृहस्थी में लगता नहीं था। यद्यपि गृहस्थी में फँसाने वाली कोई भी वस्तु नहीं थी। लड़कियाँ सब अपने-अपने घर चली गई थीं। देवहूतिजी, सदा आराधना में ही लगी रहती थीं। कपिल भगवान् बाल्यकाल से ही विरक्त थे, फिर भी अहङ्कार का लेश तो था ही। यह मेरा घर है, यह मेरी पत्नी है, मैं इसका भरण-पोषण करने वाला भर्ता हूँ, ये मेरे पुत्र हैं, मैं इनका पिता हूँ! वे इस अहङ्कार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म बीज को भी नष्टकर डालना चाहते थे। वे मन से ही नहीं, शरीर से भी इन सब सम्बन्धों का त्याग करना चाहते थे, किन्तु भगवान् की आज्ञा के बिना यह सब कैसे हो सकता है? प्रभु चाहें तो सब संभव है, वे न चाहें तो मनमोदक खाते रहो भूख तो बुझने की नहीं। अतः भगवत् आज्ञा प्राप्त करने के निमित्त वे ध्यान मग्न भगवान् कपिल की सेवा में गये, उनके समीप पहुँचकर उन्होंने भगवान को साष्टाङ्ग दण्डवत् किया।

अपने पिता को अपने चरणों के समीप साष्टाङ्ग प्रणाम करते देखकर लज्जा का भाव प्रदर्शित करते हुए भगवान् कपिल सम्भ्रम के साथ खड़े हो गये और उन्हें उठाते हुए बोले—"पिताजी! आप यह क्या कर रहे हैं, बच्चों को भला इस प्रकार लज्जित किया जाता है। हम तो आपके बच्चे हैं, आपको तो हमें आशीर्वाद देना चाहिये। प्रणाम करने के अधिकारी तो हम हैं। आप यह कैसी उलटी गङ्गा बहा रहे हैं।"

कर्दमजी ने दीनता के स्वर में कहा—"प्रभो! आप मुझे ठगें नहीं। आप किसके पुत्र? संसार आपका पुत्र है। आप कृपा के सागर हैं। किसी साधन से आप प्रसन्न नहीं होते। साधनों से तो देवगण भी बड़ी कठिनता से चिरकाल के पश्चात् यदि विधान ठीक हुआ तो-प्रसन्न होते हैं। फिर आपकी तो बात ही पृथक् है। आप तो केवल कृपावश, अपनी अनुकम्पा से ही

प्रसन्न होते हैं। नहीं तो अनेकों योगी, असंख्यों-जन्मों तक सुदृढ़ समाधि द्वारा आपका ध्यान करते रहते हैं कि एक बार उन्हें समाधि में आपकी छटा दिखायी दे जाय। इनमें से किसी भाग्यशाली को दर्शन होते हैं, बहुतों को नहीं भी होते। ऐसे होने पर भी आप हम विषय-लोलुप गृहस्थों के अपराधों की ओर कुछ भी ध्यान न देकर हमारे यहाँ पुत्र रूप में अवतीर्ण हुए यह एक विडम्बना ही तो है। बिना आपकी कृपा के यह कभी संभव हो सकता है ?"

भगवान् बोले—"पिताजी ! भगवान् तो अजन्मा हैं, उनका रूप इन चर्म-चक्षुओं से दिखाई भी नहीं देता, इसलिये वे अरूप कहलाते हैं। मेरा तो आप रूप देख रहे हैं, माता के गर्भ से मेरा आपके घर जन्म हुआ है। फिर आप मुझे भगवान् क्यों बता रहे हैं ?"

कर्दमजी ने कहा—"नहीं भगवन ! आप अरूप होने पर भी भक्तों की इच्छानुसार अनेक रूप धारण कर लेते हैं। अनेक कर्मों के फल भोगने को आप जन्म नहीं लेते। भक्तों की इच्छा-पूर्ति के लिये आप जन्म भी लेते हैं और पुत्र, मित्र, सखा, सेवक, दूत, किंकर इत्यादि उनकी प्रसन्नता के निमित्त सब कुछ बन जाते हैं। आप अपने भक्तों का सदा मान बढ़ाते ही रहते हैं। उनकी सभी उचित-अनुचित बातों को आप पूर्ण करते हैं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मैं ही हूँ। मैंने भूल में अज्ञान वश आपके सदृश पुत्र की याचना कर डाला। आप तो अपने सदृश अकेले ही हैं, अतः मेरी उस इच्छा को पूर्ण करने और अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने के निमित्त मेरे घर पुत्र रूप में प्रकट हो गये "

भगवान् बोले—"पिताजी ! भगवान में तो समस्त ऐश्वर्य, वैराग्य, यश, ज्ञान, वीर्य और सम्पत्ति—ये षड्गुण सर्वदा

निरन्तर विद्यमान रहते हैं। मुझमें ये सब आप कहाँ देख रहे हैं ?"

कर्दमजी ने विनीत भाव से कहा—"प्रभो ! आपका यह अवतार, तत्त्व-जिज्ञासु-विद्वज्जनों के उपदेशार्थ ही हुआ है। आपके पादपद्मों की पावन पीठ की वन्दना बड़े-बड़े ज्ञानी, सांख्याचार्य, योगीगण सदा करते ही रहते हैं। षडैश्वर्य में सदा विद्यमान रहते हैं। आप, प्रकृति और पुरुष के भी नियामक पुरुषोत्तम हैं। महत्तत्व, काल, ब्रह्मा, तीनों गुण, अहंकार, देवता, लोकपाल, जड़, चेतन जो भी कुछ है—सबका अस्तित्व आपकी शक्ति में ही है। आप स्वच्छन्द, शक्ति, सर्वज्ञ और अनन्त हैं ! मुझे भुलावें नहीं, मैं आपके चरणों में पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ।"

इतना सुनते ही भगवान् हँस पड़े और बोले—"महामुनि ! आपका ज्ञान बड़ा दृढ़ है। माया आपको स्पर्श भी नहीं कर सकती।"

कर्दम मुनि लजाते हुए बोले—"महाराज ! जिनके ऊपर आपकी कृपा है, जिनके उद्धार का भार आपने अपने ऊपर ले लिया है, जो आपके अतिरिक्त और किसी को कुछ समझते ही नहीं उन्हें माया भला कैसे स्पर्श कर सकती है ? एक बार आपने जिसे अपना कहकर वरण कर लिया, वह यदि किसी कारण वश कुछ काल के लिये विषय-भोगों में आसक्त भी हो जाय, तो आप उसका शीघ्र ही उद्धार करते हैं, बलपूर्वक उसे संसार-सागर से हाथ पकड़कर उबार लेते हैं। मुझ, संसार मग्न को ही उबारने के लिये आप मेरे यहाँ पुत्र रूप में अवतरित हुए हैं।"

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! इस प्रकार जब महामुनि कर्दमजी ने भगवान् कपिल की स्तुति की, तो वे उनके ऊपर

प्रसन्न हुए और उन्हें तत्वज्ञान का उपदेश देने के लिये प्रवृत्त हुए।"

छप्पय

पुत्र रूप हरि लखे एक दिन बैठे बन महँ।
आज्ञा ले घर त्याग चलूँ सोची मुनि मनमहँ॥
करके दण्ड प्रणाम विनय श्रद्धा युत बानी।
बोले—हे अखिलेश! तुम्हारी महिमा जानी॥
माया मोहित मूढ़ हौं, तुम महेश, अज, अखिलपति।
साधन सुलभ न दरश तव, प्रकटे कीन्हीं कृपा अति॥

कर्दमजी का सन्यास ग्रहण

(१६२)

आ स्माभिपृच्छेऽद्य पतिं प्रजानाम्
त्वयावतीर्णर्ण उताप्तकामः ।
परिव्रजत्पदवीमास्थितोऽहम्
चरिष्ये त्वां हृदि युञ्जन् विशोकः ॥*
(श्री भा० ३ स्क० २४ अ० ३४ श्लोक)

छप्पय

भयो कृतारथ देव पितृ ऋषि ऋणतें छूट्यो ।
जग के भोगे भोग मोह को नातो टूट्यो ॥
एक कृपा अब करो मूर्तिहिय महँ तव धारूँ ।
विचरूँ ह्वै निर्द्वन्द्व तुम्हें सर्वत्र निहारूँ ॥
इच्छा द्वेष विहीन बनि, देह गेह ममता तजहुँ ।
सुख दुख महं सम भाव करि, ह्वै अनन्य तुमकूं भजहुँ ॥

अमृतत्व प्राप्ति का एकमात्र उपाय है त्याग। त्याग के बिना सुख नहीं, शाश्वती शान्ति नहीं, संसार से सर्वदा के लिये मुक्ति

---

* महामुनि कर्दम, भगवान् कपिल से प्रार्थना कर रहे हैं—"प्रभो ! आप सम्पूर्ण प्रजाओं के पति हैं, आपके अवतीर्ण होने से मैं तीनों ऋणों से मुक्त हो गया तथा मेरी समस्त कामनाये पूर्ण हो गईं। अब मेरी इच्छा है कि मैं संन्यासाश्रम को ग्रहण करके हृदय मे ध्यान करते हुए शोक रहित होकर विचरण करूं। इसके लिये मैं आपकी आज्ञा चाहता हूं।"

नहीं। निःश्रेयस का मूल कारण है त्याग। जो लोग प्रवृत्ति मार्ग को ग्रहण करते हैं वे फँसने के लिये नहीं करते। ग्रहण करना—विषयों में सदा लिप्त रहना—यह कर्मयोग अथवा वर्णाश्रम-धर्म का अभिप्राय नहीं। वह भी त्याग के लिये है। जैसे युद्ध करते समय किसी अवसर पर शत्रु को फँसाने को पीछे हटते हैं, जहाँ शत्रु फँसा कि एक दम आगे बढ़कर उस पर प्रहार करते हैं। सिंह, शिकार करते समय तनिक पीछे हट कर तब आक्रमण करता है। वहाँ पीछे हटने से प्रयोजन आक्रमण को भीषण बनाने के लिये है। आगे कूदने के लिये कुछ हटकर बल को बढ़ाना पड़ता है, गति को द्रुत करने का यह उपाय है। अनेक जन्मों के संस्कारों के कारण जीवों का विषयों के प्रति आकर्षण होता है, प्रारब्ध-कर्म बलात् उधर ले जाते हैं, इसलिये मनीषियों ने 'कर्म-त्याग' के मार्ग से-वर्णाश्रम धर्म को श्रेष्ठ बताया है। ब्रह्मचर्याश्रम में त्याग की शिक्षा प्राप्त करो। गृहस्थाश्रम में प्रारब्ध-कर्मों को भोगते हुए धर्मपूर्वक काम तथा विषय का सेवन करो। वानप्रस्थाश्रम में ज्ञान-अज्ञान में किये हुए पापों का प्रायश्चित्त करते हुए पूर्ण त्याग के लिये तैयारियाँ करो। संन्यासाश्रम में सब कुछ त्यागकर, समस्त प्राणियों को अपने से अभय-दान देकर परिव्राजक बन जाओ। यही वर्णाश्रम धर्म का रहस्य है। दारा-ग्रहण त्याग के ही निमित्त है। त्याग ही चरम लक्ष्य है।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! ऋषिप्रवर श्री कर्दमजी ने भगवत् आज्ञा समझकर त्याग को आगे रखकर ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया था। उन्होंने अपने ससुर महाराज स्वायंभुवमनु से विवाह के पूर्व ही स्पष्ट शब्दों में कह दिया था—"देखिये, मैं गृहस्थाश्रम को स्वीकार तो करता हूँ—किन्तु आप सोचते हों कि मैं मरते समय तक सदा गृहस्थाश्रम में ही फँसा रहूँ, मेरी मृत्यु खौं-खौं खाँसते हुए, परिवार वालों से घिरे हुए घर

में खटिया पर ही हो—सो न होगा। जहाँ तुम्हारी पुत्री के कोई सन्तान हुई कि फिर जय-जय राधेश्याम हो जायगी! मैं सब छोड़-छाड़कर वन में चला जाऊँगा। महात्याग की सर्वोत्तम दीक्षा ग्रहण कर लूँगा, क्योंकि वे अनन्त भगवान् ही मेरे लिये परमप्रमाण हैं।" यह सुनकर हर्ष के सहित महाराज मनु ने कहा—"प्रभो! त्याग तो हम लोगों का भूषण ही है। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं।" भगवती-देवहूति भी सुन रही थीं अतः बात दो टूक हो गई। किसी को पीछे कुछ कहने सुनने को रहा नहीं।

अब, जब नौ की नौओं के विवाह हो गये, घर में पुत्र रूप से साक्षात् श्रीहरि प्रकट हो गये, तब तो महामुनि ने संन्यास ग्रहण करने का निश्चय ही कर लिया। एकान्त में जाकर उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की।

अपने पिता को इस प्रकार प्रार्थना करते देखकर जगत् के पिता भगवान् कपिल बोले—"मुनिवर! आपने अपनी तपस्या से मुझे सन्तुष्ट किया है। इसीलिये मैं आपके यहाँ पुत्र रूप में अवतीर्ण हुआ हूँ।"

कर्दमजी बोले—"प्रभो! आपको तपस्या से कौन प्रसन्न कर सकता है! आपको पाने को योग्य तप कर ही कौन सकता है? आपकी जिस पर अनुकम्पा हो जाय, वही आपके दर्शनों का अधिकारी हो सकता है।"

भगवान्-कपिल बोले—"मुनि! यह सत्य है, फिर भी लौकिक-वैदिक कर्मों में मेरा वचन ही प्रमाण है। मेरी वाणी को ही वेद-शास्त्र कहते हैं। मैंने तुमसे कहा था—मैं तुम्हारे घर अवतीर्ण हूँगा। सो उसी वचन को पूर्ण करने के निमित्त मैंने अवतार धारण किया है, यह मेरा अवतार एक विशेष-कार्य की सिद्धि के निमित्त हुआ है।"

कर्दम मुनि ने पूछा—"भगवान्! वह कौन-सा कार्य है?"

भगवान् कपिल बोले—"देखो! प्राचीन-सांख्यशास्त्र लुप्त प्रायः हो गया है। जो लोग, लिङ्ग शरीर के मुक्त होने की इच्छा वाले हैं उनके लिये सांख्यशास्त्र ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। मूल-प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, भूत-इन्द्रियाँ आदि तत्वों की परिसख्या करने का और पुरुषोत्तम को इनसे पृथक् करके जानने का ही नाम "सांख्य" है। उसी शास्त्र का प्रचार और प्रसार मेरे अवतार का प्रधान हेतु है। तुम दोनों ने वैराग्य भाव से मेरा आवाहन किया है। अतः मैं गृहस्थ धर्म को स्वीकार नहीं करूँगा। त्यागी—विरागी होकर ही संसार के सम्मुख संन्यास-धर्म का महान् आदर्श उपस्थित करूँगा।"

कर्दमजी ने कहा—"यह तो मैं जानता हूँ प्रभो! कि आप गृहस्थ-आश्रम धर्म को स्वीकार नहीं करेंगे। मुझे इसकी इच्छा भी नहीं। मेरा यही सौभाग्य है कि, आप हम जैसे अधमों के यहाँ अवतीर्ण हुए, किन्तु मैं यह और जानना चाहता हूँ कि आप यहाँ कब तक विराजेंगे?"

भगवान् ने कहा—"मुनिवर! मेरा यहाँ रहने का और कोई प्रयोजन नहीं। केवल मैं अपनी माता को आत्मज्ञान का उपदेश और करना चाहता हूँ। यह मेरी भक्ता है, अनुरक्ता है, अधिकारिणी है, उसकी सांसारिक विषयों में आसक्ति नहीं। बाल्यकाल से वह मेरा ही स्मरण, भजन करती रही है। वास्तविक बात तो यह है, कि मैं उसी को उपदेश देने के निमित्त यहाँ ठहरा हुआ हूँ। उसे जब पूर्ण रूप से तत्त्वज्ञान हो जायगा तो मैं भी घर को छोड़कर चल दूँगा।"

महामुनि कर्दम ने कहा—"तब, महाराज! मेरे लिये क्या आज्ञा होती है?"

भगवान् बोले—"पिताजी! आप बड़ी प्रसन्नता से जाइये।

मेरी आपके कार्य के साथ हार्दिक—सहानुभति है, मैं प्रसन्नता पूर्वक आपको आज्ञा देता हूँ। आप सभी कर्मों को मेरी प्रसन्नता के निमित्त करते हुए, उनके फलों को मुझे समर्पित करके मेरी आराधना कीजिये, मुझमें ही मन लगाइए। आप अवश्य ही दूसरों से न जीते जाने वाली दुर्जय—मृत्यु को जीतकर-माया से मुक्त होकर-मोक्षपद को प्राप्त करेंगे।"

कर्दमजी ने विनीत भाव से पूछा—"महाराज! मैं साधन क्या करू वन में जाकर?"

हँसते हुए भगवान् बोले—"अजी, साधन क्या करना? सूक्ष्माति सूक्ष्म-बुद्धि के द्वारा आत्मा को अपने आप में ही देखो। एकाग्र मन से स्वस्थ चित्त होकर विचार करो. कि जो आत्मा मेरे अन्तःकरण में प्रकाशित हो रहा है, वही चराचर-विश्व में व्याप्त है। अपने को सभी भूतों में समान रूप में देखो और भूतों को अपने में देखो। इस प्रकार सर्वात्मभाव से मेरा ही भजन करो, मेरा ही चिन्तन करो, मेरा ही कीर्तन करो, मेरे लिये ही कर्म करो, ऐसा करने से अन्त में तुम 'परमपद' को प्राप्त कर सकोगे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी! भगवान की ऐसी आज्ञा पाकर महामुनि कर्दमजी के हर्ष का पारावार नहीं रहा। उन्होंने भूमि में पड़कर प्रभु के पाद-पद्मों में प्रणाम किया। भगवान् ने उन्हें उठाकर गले से लगाया, दोनों की आँखें डबडबाई हुई थीं। दोनों का हृदय भरा था। पिता, पुत्र अथवा भक्त, भगवान् दोनों ही एक दूसरे को अपनी ओर खींच रहे थे। ज्ञान और वस्तु है, स्वाभाविक प्रेम दूसरी ही वस्तु है। प्रेम भरित हृदय से कर्दम मुनि ने अपने पुत्र रूप प्रभु की प्रेम पूर्वक प्रदक्षिणा की। पुनः-पुनः प्रणाम करते हुए वे वन की ओर चले गये। सर्वकर्म-फल त्याग पूर्वक वे सच्चे संन्यासी बन गये।"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"मुनिवर ! ऋषि श्रेष्ठ कर्दमजी ने वन में क्या किया और अंत में उन्हें कौन-सी गति प्राप्त हुई ? कृपा करके इस बात को मुझे और सुनाइये।"

यह सुनकर मैत्रेयजी कहने लगे—"विदुरजी ! कर्दमजी को अब करना शेष ही क्या रहा था ? उन्हें तो पहिले ही भगवत् कृपा प्राप्त हो चुकी थी। स्वयं साक्षात् श्रीहरि उनके घर पुत्र रूप में अवतीर्ण हुए। फिर भी उन्होंने लोक संग्रह के लिए परमहंस-यति-धर्म का आचरण किया। सर्व प्रथम उन्होने वाणी का संयम किया। वे वाणी का निरोध करके मौनी बन गये। अहिंसा, सत्य आदि नियमों का पालन करने लगे। गृहस्थाश्रम में जो अग्निहोत्र करते थे, उसे उन्होंने अपने प्राणों में लीन कर लिया अर्थात् निरग्नि वन गये। किसी भी घर में उन्होंने अहंभाव नहीं रखा। जहाँ भी आश्रय देखा, वहीं पड़ गये। शून्य घरों में, देवालयों में, नदियों के तट पर, वृक्षों की छाया में जहाँ इच्छा होती पड़ जाते। सर्व प्रकार के सङ्गों को त्यागकर, एकमात्र भागवत् परायण होकर सभी द्वन्द्वों को सहते हुए वे बिना संकल्प के स्वेच्छा से विचरण करने लगे। उन्होंने अपना मन, सभी व्यापारों के नियामक, कार्य-कारण से अतीत उन निर्गुण निराकार श्रीहरि में लगाया, जो भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी साधन के द्वारा जाने नहीं जा सकते। इस प्रकार ध्यान करने से उनकी चित्त-वृत्ति गंभीर, शान्त और अन्तर्मुखी हो गई। भगवान् वासुदेव में बढ़ी हुई भक्ति के कारण वे अपने शरीर की भी सुध-बुध भूल गये, उनके हृदय की ग्रन्थि खुल गई। सभी संशयों का उच्छेदन हो गया और वे सभी बन्धनों से मुक्त होकर सर्वत्र श्रीहरि को ही देखने लगे।"

इस प्रकार महामुनि कर्दम इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि सभी द्वन्द्वों से निर्मुक्त होकर भक्ति-भाव-भावित हृदय वाले हो

गये। अन्त में उन्हें अत्यन्त दुर्लभ भागवती-गति प्राप्त हुई, जो किसी साधन से नहीं—"एकमात्र भगवत्-कृपा से ही-प्राप्त हो सकती है।"

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! यह मैंने आपको भगवान् कर्दमजी का चरित्र अत्यन्त संक्षेप में सुनाया। अब मैं आपको देवहूतिजी का आगे का चरित्र सुनाऊँगा, उसे आप सावधान-चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

जनक वचन सुनि कपिल कहें जावो पितु बनकूँ।
चंचल चितकूँ रोकि लगाओ मो में मनकूँ॥
परम मधुर अति सरल वचन श्रीहरि के सुनिके।
प्रभु वियोग कूँ सुमिरि नैन भरि आये मुनिके॥
चले मोह—ममता तजी, बनि विरक्त बन-बन फिरहिँ।
पाई भागवती-गती, सुनत चरित कलिमल टरहिँ॥

भगवान् कपिल से तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा

[१६३]

तं त्वा गताहं शरणं शरण्यम्
स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम् ।
जिज्ञासयाहं प्रकृतेः पूरुषस्य
नमामि सद्धर्मविदां वरिष्ठम् ॥*
(श्रीमा० ३ स्क० २५ अ० ११ श्लोक)

छप्पय

इत माता ने आइ करी हरि तें जिज्ञासा ।
प्रभो ! उबारो मोहि लगाई कबतें आसा ॥
प्रकृति पुरुष को भेद बताओ संशय नासो ।
तम अज्ञान मिटाइ हृदय रवि ज्ञान प्रकासो ॥
भव भय भंजन करहु प्रभु, भक्त वछल अशरणशरण ।
पार जगत् जलनिधि करन, तरणि रूप तव शुभचरण ॥

ब्रह्माजी ने इन चक्षुओं के गोलकों को बाहर की ओर ही

---

* माता देवहूति भगवान् कपिल से प्रार्थना करती हैं—'हे प्रभु ! आप शरणागतवत्सल हैं, अपने भक्तों के संसार रूपी वृक्ष को काटने के निमित्त कुठार के सदृश हैं। ऐसा समझकर मैं भी आपकी शरण में आई हूँ। मुझे प्रकृति और पुरुष के ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा है, उसे आप ही समझा सकते हैं, क्योंकि आप समस्त सद्धर्म के जानने वालों में सर्वश्रेष्ठ हैं, ऐसे आपको मैं प्रणाम करती हूँ।"

बनाया है, अतः स्वभावतः जीव इन संसारी पदार्थों को ही देखता है, उन्हीं में रमण करता है, उन्हीं में सुख समझता है। विषयों की ओर लगाने को कोई विद्यालय नहीं, शिक्षणालय नहीं। अनेक जन्मों से विषयों को भोगते-भोगते जीव उनका आदी हो गया है। इसलिये तो उत्पन्न होते ही, बिना किसी के सिखाये ही माता के स्तन से दूध खींच लेता है। पूर्वजन्म का अभ्यास न होता, तो बालक क्या जानता कि इसमें दूध है और वह कैसी क्रिया करने से खींचा जाता है? संसार के सभी पदार्थ हमें अपनी ओर खींच रहे हैं, हम सभी इन चित्र-विचित्र विषयों को देखकर, सुनकर, सूँघकर तथा स्पर्श आदि करके उनकी ओर आकृष्ट होते हैं। यह आकर्षण जीव मात्र में है। मन तथा इन्द्रियों के साथ विषयों का संसर्ग होते ही कामना उत्पन्न हो जाती है। जो जहाँ से उत्पन्न होता है, उसका अपने उत्पत्ति स्थान की ओर स्वभाव से झुकाव होता है। उसमें नैसर्गिक-अनुराग होता है। वास्तव में तो जीव, सच्चिदानन्दघन आनन्द स्वरूप परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ है। इसका अनुराग तो उनकी ही ओर होना चाहिये, किन्तु मुख्य कारण को भूलकर गौण-कारण को वह अपना जनक समझता है! जैसे फूलों में रंग नहीं है, रंग तो सूर्य में अर्थात् प्रकाश में है। प्रकाश न हो, तो सभी पुष्प एक ही से हो जायँगे। प्रकाश में जो विविध रंग दिखाई देते हैं, वे पुष्पों के न होकर प्रकाश-किरणों के हैं। हम अज्ञान-वश उन्हें फूलों का रंग कहते हैं। इसी प्रकार प्राणिमात्र के बीज तो श्रीहरि ही हैं, हम उन्हें अपनी उत्पत्ति का कारण न समझकर जननी, जनक, रज–वीर्य आदि को कारण समझते हैं और फिर उन्हीं में रमण करके आनन्द का अन्वेषण करते हैं। हम जिस आनन्द या सुख के अन्वेषण में सदा व्यग्र बने रहते हैं, वह आनन्द क्या है? वह आनन्द ब्रह्म

ही है ! उसे भगवान् कहो, परमात्मा कहो, ब्रह्म कहो—एक ही बात है। खोज तो रहे हैं हम अपने उत्पत्ति स्थान को ही, किन्तु हमारी खोज मिथ्या है। जिसे पाकर हम चिल्ला उठते हैं— "अरे, इसमें तो बड़ा आनन्द मिला" वह आनन्द, आनन्द नहीं है। मात्र आनन्द का आभास है। वास्तविक आनन्द उससे बहुत दूर है वह तभी प्राप्त होगा जब हमारा भ्रम दूर होगा। इस बात को एक दृष्टान्त से समझो—एक लड़का है, वह माता के सामने रोता है—"मुझे घोड़ा दो" माता एक मिट्टी का घोड़ा उसे देती है, और कहती है—"ले यह घोड़ा है।" बच्चा बड़ा प्रसन्न होता है। वह चिल्लाता-फिरता है "मुझे घोला मिल गया, मेला घोला—मेला घोला।" दूसरा बच्चा एक काठ का घोड़ा लाता है, वह कूदता है "मेला घोला तेले से अच्छा है।" दोनों बड़े प्रसन्न हैं। मेरा अच्छा, नहीं मेरा अच्छा कहकर लड़ते हैं। माता-पिता भी हँसते हुए कहते हैं—"वाह ! लालाजी ! तुम्हारा घोड़ा तो बड़ा अच्छा है, हमें भी दे दो।" वह कहता है—"नहीं, मैं अपने घोले को नहीं दूँगा।" अब विचार कीजिये, लड़का क्यों प्रसन्न हो रहा है ? घोड़ा पाकर वह समझता है मुझे घोड़ा मिल गया ! वास्तव में वह घोड़ा तो है नहीं। घोड़ा नाम का एक मिथ्या-आभास कराने वाला खिलौना है। बच्चा उसे घोड़ा समझकर प्रसन्न हो रहा है। कुछ काल में उसका वह मिथ्या भ्रम दूर हो जाता है। वह बड़ा हो जाता है। उसे असली घोड़ा मिल जाता है, फिर उसे खिलौने के घोड़े की प्राप्ति में आनन्द नहीं आता, उसे मिथ्या समझता है। आज हम जो इन सुन्दर रूप, स्वादिष्ट रस मनोहर गन्ध, सुखद स्पर्श तथा हृदयस्पर्शी शब्दों आदि को पाकर अपने को सुखी समझ रहे हैं, वास्तव में यह सुख ... है। अज्ञान वश इनमें सुख मान बैठे हैं। जब तक ... और उसकी विकृति के पदार्थों को पुरुष से पृथक् ...

भेद न समझ लेंगे, तब तक यह अज्ञान दूर न होगा। जहाँ प्रकृति पुरुष और पुरुषोत्तम का यथार्थ-ज्ञान हो गया, वहाँ ये संसारी विषय तुच्छ दिखाई देंगे, फिर इनमें कुछ भी सुख प्रतीत न होगा। ऐसा, होता तो बड़े-बड़े चक्रवर्ती समस्त सुखों को त्याग कर वन-वन क्यों भटकते रहते ? किन्तु ऐसा किसी भाग्यशाली को ही प्राप्त होता है। ऐसी जिज्ञासा पूर्वजन्म के सुकृतों से ही उदित होती है। हजारों लाखों पुरुषों में से कोई एक जिज्ञासु होता है। परम भाग्यवती अवतार जननी, भगवती-देवहूति इन भाग्यशालिनी ललना-रत्नों में से हैं जो एक ही जन्म में इस दुस्तर संसार सागर को पार कर गईं। कर्दम और देवहूति के चरित्र के प्रसङ्ग में भगवान् कपिल का अवतार सुनकर ऋषियों को बड़ा कुतूहल हुआ। उनके कुतूहल को समझ कर महामुनि शौनकजी ने सूतजी से पूछा।

शौनकजी बोले—"सूतजी ! आपने भगवान् कपिल के अवतार का बड़ा ही सुखद वर्णन किया। इस पावन चरित्र को सुनते-सुनते तो हमारे कर्ण तृप्त ही नहीं होते, इच्छा होती है इसे निरन्तर सुनते ही रहें। देखिये अजन्मा होकर भी जन्म लेना, निर्गुण होकर भी गुणों का आश्रय करना—ये कैसी विपरीत बातें हैं। भगवान् ने कपिल रूप से जिज्ञासुओं को कैसे उपदेश दिया ? उन्होंने कौन-कौन-सी कमनीय-क्रीड़ायें कीं ? कौन-कौन से नर-नाट्य किये ? अपनी माता को कैसा उपदेश दिया ? इन सब बातों का सुनने की हम सबकी बड़ी उत्कन्ठा है, आप हमें इन सबको विस्तार के साथ सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाभाग ! आप यह प्रश्न करके मुझे उत्साहित कर रहे हैं। अपने प्रभु प्रेम को प्रदर्शित कर रहे हैं। धन्य है आपकी अलौकिक भक्ति को ! जो सच्चे भगवद्भक्त होते हैं, उन्हें भगवत्-कथाओं में ऐसा ही

रस आता है! जैसे कामासक्त—कामुक और कामिनियों की काम से कभी तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार भक्त, भगवत्-कथाओं के सम्बन्ध में अतृप्त ही बने रहते हैं। भगवन्! जिस प्रकार आप भगवत्-कथा रस के रसिक हैं उसी प्रकार परम-भागवत विदुरजी भी बड़े रसिक थे। जो बात आप मुझसे पूछ रहे हैं, वही बात उन्होंने भगवान् मैत्रेयजी से पूछी थी। मैत्रेयमुनि ने उन्हें जो उत्तर दिया, उसे मैं आपको उसी प्रकार सुनाऊँगा जिस प्रकार मैंने अपने गुरु भगवान्—शुकदेवजी के मुख से सुना है।"

मैत्रेयजी कहने लगे—"विदुरजी! महामुनि कर्दमजी तो भगवान् कपिलदेव की आज्ञा लेकर वन को चले गये। अब उस इतने बड़े विमान पर दासियों से घिरी हुई भगवती देवहूति ही रह गई। कन्यायें विवाह होने पर अपने-अपने घर की स्वामिनी बन गई। परमेश्वर की आराधना के निमित्त पति, परिव्राजक-यति बन गये। अब मोह के सब द्वार रुद्ध हो गये। पुत्र का सबसे बड़ा मोह होता है सो, पुत्र साक्षात् परमात्मा के अवतार ही हैं। अवतार भी माधुर्य्य के होते, तो कुछ क्रीड़ायें होतीं! ये तो ज्ञानावतार हैं। इनकी दृष्टि सदा नासिका के अग्र भाग पर ही लगी रहती है। पता नहीं नासा के अग्र भाग पर कौन बैठा है? बहुत से वैष्णव भी वहीं से तिलक-स्वरूप आरम्भ करते हैं। ये पुत्र तो नाम मात्र के हैं, भगवान् ही हैं। मेरी एकमात्र गति ये ही हैं। अब इन्हीं की शरण में जाने से बेड़ा पार लगेगा।" यही सोचकर एक दिन माताजी अकेली ही विमान से उतरकर वन की ओर चलीं।

आज उन्हें यह संसार विचित्र ही दिखाई दे रहा था। बात यह है, कि संसार कैसा है इसे भगवान् ही जाने, किन्तु सभी इसे अपनी भावना से देखते हैं। भूखे पुरुषों को संसार सूना-सूना-

सा दिखाई देता है। जिसका सर्वस्व लुट जाता है उसे संसार लुटा हुआ-सा दीखता है। सुखी को दूसरे का दुख मालूम नहीं पड़ता। दुखो को सर्वत्र दुख-ही-दुख दिखाई देता है। जिसे संसार से वैराग्य हो गया है, उसे लता-पता में सर्वत्र वैराग्य की ही झलक दिखाई देती है।

माता देवहूति को आज सम्पूर्ण संसार एक नाटक-सा दिखाई दिया। वृक्ष, लता, वन-उपवन, नदी, सरोवर सभी के देखने से उनका वैराग्य बढ़ने लगा। इस प्रकार वे वन की शोभा निहारती हुई घोर अरण्य में प्रवेश कर गईं। वहाँ वे क्या देखती हैं कि, एक विशाल वट की छाया में उनके पुत्र भगवान् कपिल ध्यान मग्न बैठे हैं। माता के बाल खुले हुए थे, शरीर में झुर्रियाँ पड़ गई थीं, बहुत साधारण-सी वे एक साड़ी पहिने हुये थीं। ध्यानमग्न, तेजपुञ्ज अपने परमात्मा पुत्र को देखकर आज उनका समस्त मोह दूर हो गया। उन्होंने भूमि में सिर टेककर भगवान् के पादपद्मों में श्रद्धा सहित प्रणाम किया। भगवान् ने दृष्टि उठाकर जब अपनी माता को प्रणाम करते हुये देखा, तो वे हँस पड़े और अत्यन्त ही स्नेह से बोले—"माता! आप आज यहाँ अकेली कैसे चली आईं। कोई आज्ञा होती तो किसी दासी से समाचार भेज देतीं, मैं तुरन्त चला आता। मैं तो आपका बच्चा हूँ।"

माँ देवहूतिजी ने दीनता के साथ कहा—"प्रभो! अब आप मुझे और अधिक न बहकावें। आपके प्राकट्य के समय में ही लोकपितामह-भगवान्-वेदगर्भ मुझे आपके अवतार का रहस्य बता गये थे। अब तक तो मैं विमूढ़ा बनी रही, आज मुझे याद आई इसलिये मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुई हूँ। मैं आपसे एक बात पूछना चाहती हूँ, आज्ञा हो तो पूछूँ ?"

भगवान् बोले—"माता! आज आप ऐसी बातें क्यों कर रही हैं? आप जो भी पूछेंगी उसका उत्तर मैं दूँगा।"

तब माता ने पूछा—"भगवन्! यह पूछना चाहती हूँ, कि भगवान् के यहाँ भी स्त्री-पुरुष का भेद-भाव होता है क्या?"

कपिल भगवान् यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"माताजी, आपका अभिप्राय क्या है?"

माँ ने कहा—"प्रभो! आपको भी अभिप्राय समझाना पड़ेगा क्या? आप तो घट-घट की बात जानते हैं। देखिये, आपने अपने पिताजी को तो ज्ञानोपदेश करके संसार-सागर से पार कर दिया। मेरी ओर ध्यान भी न दिया। आपकी माता कहलाकर भी मैं इसी चौरासी के चक्कर में पड़ी रहूँगी क्या?"

भगवान् ने कहा—"नहीं माताजी, आप चौरासी के चक्कर में क्यों पड़ी रहेंगी! भगवत् प्राप्ति के तो सभी अधिकारी हैं, चाहे वह पुरुष या स्त्री हो, बूढ़ा हो, बालक हो, युवा हो, कोई भी क्यों न हो जिसके हृदय में जिज्ञासा है, वही ज्ञान का अधिकारी है।"

माँ देवहूतिजी ने कहा—"प्रभो! इन इन्द्रियों ने मुझे अपने वश में कर लिया है। इन्होंने मुझे अपनी दासी बना लिया है। इन्द्रियों में आसक्त होकर इनकी लालसा 'दिन दूनी रात्रि चौगुनी' बढ़ती ही जाती है। तृष्णा शान्त नहीं होती। भोगों की इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती। जैसे जलती हुई अग्नि में जितना ही घृत डालो उतनी ही उसकी ज्वाला बढ़ती है, यही दशा इन्द्रियों की है। भोगों के भोगने से वासना की लपटें और ऊँची उठती जाती हैं। इससे कैसे छुटकारा हो? आप भक्त-वत्सल हैं, अशरणशरण हैं, शरणागतों के प्रतिपालक हैं, मैं सबसे मुख मोड़कर आपके शरण में आई हूँ, आप मेरी रक्षा

करें! मुझे परमार्थ पथ का निर्देश करें। मैं आपकी भक्ता, अनुरक्ता और प्रपन्ना हूँ।"

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! जब भगवान् ने अपनी माता के ऐसे सुन्दर, सरल और मोक्ष में रति उत्पन्न करने वाले वचन सुने तो वे उन्हें तत्व-ज्ञान का उपदेश देने के लिए उद्यत हुए।"

छप्पय

सुनिकें परम पवित्र मोक्ष हितकर वर वानी।
जिज्ञासा है गई मातु हिय हरि ने जानी॥
हरि बोले—'अध्यात्मयोग साधन' भल सुखकर।
जाके आश्रय तरें जगत् जलनिधि अति दुस्तर॥
जो मन विषयनि महँ फँस्यो, सो बन्धन को हेतु है।
हरि चरननि महँ जो लगै, तो जग तारन सेतु है॥

भगवान् कपिल के उपदेश का सार

[१६४]

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥*
(श्री भा० ३ स्क० २५ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

*मोक्ष भवन को द्वार सन्त-संगम मुनि माखैं ।
सरस कथा जहँ होहि कृष्ण-हिय तहँ सब राखैं ।।
सत्संगति तैं वेगि होहि श्रद्धा सत्पथ महँ ।
श्रद्धातैं रति होहिँ भक्ति पुनि पद भगवत् महँ ।।
भक्ति भवानी हिय बसैं, जग सुख विषवत् होहिँ सब ।
करत-करत अभ्यास दृढ़, होहिँ कृतारथ पुरुष तब ।।*

सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं। एक तो शरीर के सम्बन्ध

---

* भगवान् कपिल अपनी माता को उपदेश कर रहे हैं—"माता-जी। मेरे बल-पराक्रम का यथार्थ ज्ञान कराने वाली, हृदय और कानों को रसायन के समान प्रिय लगने वाली, मेरी मनोहर कथायें सज्जनों के सत्संग में ही कर्ण गोचर होती हैं। उन कथाओं के श्रवण करने ही से मोक्ष मार्ग में पहले श्रद्धा, फिर रति तदनन्तर भक्ति का प्रादुर्भाव होता है अर्थात् मोक्ष-मार्ग का सोपान सत्संग ही है।"

से सम्बन्ध और दूसरा शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध से सम्बन्ध! शरीर के सम्बन्ध को लौकिक-सम्बन्ध कहते हैं। ये हमारे शरीर के जनक हैं, ये हमारे भाई हैं, ये पिता के भाई हैं, यह बहिन है, यह बहिन का लड़का है, यह माता है, ये माता के पिता हमारे नाना हैं, ये माँ के भाई हमारे मामा हैं आदि-आदि। शरीर का सम्बन्ध जब तक शरीर है तब तक रहता है। जहाँ जीवात्मा ने इस शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण कर लिया तहाँ पूर्वजन्म के पिता पुत्र बन जाते हैं, माता, पत्नी बन जाती है। मित्र दूसरे जन्म में शत्रु बन जाते हैं।

शिक्षा-दीक्षा का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से होता है। वह इस लोक में तो कम काम देता है, उसका सम्बन्ध पारलौकिक कार्यों के लिये है। पारमार्थिक शिक्षा-दीक्षा द्वारा हम दिव्य लोकों को, परमपद-मुक्ति तक को भी प्राप्त कर सकते हैं। पारमार्थिक सम्बन्ध लौकिक सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखता। किसी भी स्थान में, किसी भी जाति में उत्पन्न हुए पुरुष से वह हो सकता है और अपने शरीर के सम्बन्धियों से भी हो सकता है! पारमार्थिक सम्बन्ध होने पर लौकिक सम्बन्ध गौण हो जाता है। उपनिषदों में ऐसी कथाएँ आती हैं, किसी स्वल्प-अवस्था वाले ऋषि ने अपने पिता, पितामह आदि वृद्ध ऋषियों को बालक या वत्स कहकर सम्बोधित किया। वहाँ निर्णय किया गया है, कि अल्प अवस्था होने पर भी ज्ञान के कार्यक्रम से यह वृद्ध ही हैं और शरीर सम्बन्ध से वृद्ध होने पर भी वे ज्ञान में न्यून होने से बालक ही हैं।

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! जब अपनी माता को भगवान् कपिलदेव ने हाथ जोड़े हुए परमार्थ की जिज्ञासा से अपने सम्मुख बैठे देखा, तो वे जगद्गुरु भगवान् अपनी माता को 'सांख्य' सम्बन्धी पारमार्थिक उपदेश देने लगे।"

भगवान् बोले—"माँ! वैसे तो भगवत् प्राप्ति और निर्वाण के अनेकों साधन हैं, किन्तु मैं इन सबमें भक्ति मार्ग को ही सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ।"

माता ने पूछा—"प्रभो! भक्ति की प्राप्ति किस साधन से हो सकती है?"

भगवान् ने कहा—"माँ, भक्ति की प्राप्ति करने का एक ही सर्वश्रेष्ठ साधन है, वह है–सत्पुरुषों का सत्संग करना। साधु सज्जन पुरुषों के यहाँ सर्वदा श्रीकृष्ण-कथायें होती रहती हैं। भगवान् के सुमधुर नामों का कीर्तन होता रहता है। कथा कीर्तन के श्रवण, मनन और अभ्यास से भगवान् के गुणों में, उनके नामों में अनुराग उत्पन्न होता है। श्रवण से श्रद्धा होती है, नित्य-प्रति श्रद्धा से सुनते-सुनते उन कथाओं के प्रति आसक्ति होती है। अत्यन्त बढ़ी हुई भगवत् सम्बन्धी आसक्ति का ही नाम भक्ति है। इसलिये जिसे भक्ति प्राप्त करनी हो वह सत्संग का आश्रय ग्रहण करे।"

यह सुनकर माताजी ने कहा—"प्रभो! आपने भक्ति की बड़ी प्रशंसा की, वह भक्ति क्या है? वह कैसे प्राप्त हो? मुझ मन्दमति को समझावें। एक तो मैं स्त्री हूँ, दूसरे मेरी बुद्धि भी बहुत विशाल नहीं है, अतः सरलता के साथ समझावें।"

जो अपनी जननी है, जिसने इस शरीर को पाला-पोसा है, जो अपनी पूजनीया है, आज वही आकर दीनता के साथ जिज्ञासा कर रही है इससे भगवान् का हृदय भर आया। वे अत्यन्त ही स्नेह भरी वाणी से कहने लगे—"माँ! तुमने भक्ति का लक्षण पूछा, सो भगवान् में सर्वात्म-भाव से चित्त की वृत्ति का लगा रहना इसी को भक्ति कहते हैं। वह अहैतुकी-बिना किसी कामना से-होनी चाहिये। इस भक्ति के सम्मुख मुक्ति तुच्छ है। मुक्ति तो वैर भाव करने वाले राक्षसों को भी प्राप्त हो

जाती है। उसमें रस नहीं। भक्ति तो रसगुल्ला की तरह, गुलाब-जामुन की भाँति, बिना बीज के मीठे अंगूर की भाँति, बड़े बोकू फल की तरह, नागपुरी कमला-सन्तरे की भाँति है-दाँत मारते ही मुँह रस से भर जाय! हृदय में लीक करता हुआ रस, चित्त को प्रसन्न कर दे यही भक्ति की विशेषता है।"

माँ देवहूति ने पूछा—"हे शरणागतवत्सल! मैं यह पूछना चाहती हूँ, उस भक्ति का रसास्वादन कैसे किया जाय?"

भगवान् बोले—"माँ, रस का आस्वादन सदा दो या दो से अधिक के साथ मिलकर किया जाता है। भक्तगण, भंगेड़ियों की भाँति मिलकर बैठ जाते हैं। एक भगवान के गुणों का गान करता है, दूसरे सुनते-सुनते प्रेम में भर कर रोने लगते हैं। एक भगवान् की दिव्य-लीलाओं और अनुपम-यशों की कथा कहता है, दूसरे बड़े चाव से घुल-मिलकर उसे सुनते हैं। कभी सब मिलकर भगवान् के मधुरातिमधुर दिव्य रसमय, आनन्दमय, प्रेमवर्धक, जगन्मंगलकारक परम-पावन नाम का कीर्तन करते हैं, हँसते हैं, रोते हैं, गाते बजाते हैं, नाचते हैं, कूदते हैं, उछलते हैं, गिरते हैं, लोटते-पोटते हैं, काँपते-हाँफते हैं, चिल्लाते हैं और रोते-रोते गिर जाते हैं। वे लोकबाह्य होकर सिड़ी-पागलों की भाँति उन्मत्त हो जाते हैं। मुक्ति उनके सामने आकर खड़ी हो जाती है, वे उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते, उसे गुम-सुम बिना कीर्तन किये खड़े देखते हैं तो उन्हें बड़ा क्लेश होता है। यह नीरसादेवी कहाँ से आ गई, न गाती है, न कीर्तन करती है, पाषाण की तरह खड़ी है। वे उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। वह भी मुँह लटकाये खड़ी रहती है कि ये, इस पागलपने से निवृत्त हों तो मैं प्रार्थना करूँ कि वे मुझे स्वीकार कर लें। किन्तु माँ, उनका पागलपन कभी समाप्त ही नहीं होता। वे कुछ-न-कुछ करते ही रहते हैं, ठाली कभी बैठते

हीं नहीं। कभी भगवान् की सेवा करते हैं, भगवान् के विग्रहों की अर्चा करते हैं, उनसे बातें करते हैं।"

माता ने पूछा —"प्रभो ! फिर मुक्तिदेवी निराश होकर लौट जाती हैं क्या ?"

भगवान् बोले—"माँ, भक्तों के यहाँ से निराश तो कोई लौटता ही नहीं ! वे स्वयं तो अमानी होते हैं, किन्तु प्राणीमात्र का सम्मान करते हैं। हाँ, जो कथा-कीर्तन के विरोधी होते हैं उनका ये जान बूझकर संग नहीं करते। यदि वे जाते हैं, तो उनका भी आदर करते हैं। मुक्तिदेवी जब उनके पास आकर प्रार्थना करती है, तो वे भगवान् से पूछते हैं—"हे भक्तवत्सल प्रभु ! इन देवी का भी कहीं ठिकाना लगा दीजिये।" तब-भगवान् कृपा करके मुक्ति को भक्ति की दासी बना देते हैं। माँ की दासी माँ के ही तुल्य है, अतः वे वैकुण्ठ में जाकर भक्तिदेवी के आश्रय से रहने लगती हैं। इन्हें न सिद्धि चाहिये न निधि। स्वर्गीय ऐश्वर्य की तो बात ही क्या, वे वैकुण्ठ की परमोत्कृष्ट 'श्री' की भी वांछा नहीं करते। उन्हें तो बस भक्ति चाहिये। मुक्ति तो भक्ति के अधीन ही ठहरी वह तो उन्हें अनायास प्राप्त हो जाती है।"

माता ने कहा —"प्रभो ! मुझे सब शास्त्रों का सार भूत कोई सर्वोत्कृष्ट-उपदेश बता दें।"

भगवान् बोले—"माँ, संसार में सर्वोत्कृष्ट-उपदेश यही है कि 'भक्ति-योग' के द्वारा इस चंचल चित्त की वृत्ति तीव्रता के साथ श्रीश्यामसुन्दर के चरणारविन्दों में लग जाय। सर्वात्मभाव से सब कर्मों को मुझे ही अर्पित करके मन मुझमें ही स्थिर हो जाय, यही सारातिसार उपदेश है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार भगवान् ने अपनी जननी को भक्ति-योग की उत्कृष्टता बताकर फिर महत्तत्त्वादि

भिन्न-भिन्न तत्वों की उत्पत्ति का वर्णन किया। प्रकृति क्या है? पुरुष क्या है? प्रकृति की विकृति से यह चराचर विश्व कैसे उत्पन्न हुआ? पंचभूतों की उत्पत्ति, उनकी तन्मात्रायें, गुण आदि का विस्तार के साथ विवेचन किया। तदनन्तर यह बात बताई कि प्रकृत-पुरुष में विवेक द्वारा मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है। इस प्रकार 'सांख्य-ज्ञान' का उपदेश देकर फिर 'अष्टाङ्ग-योग' का विस्तार के साथ वर्णन किया। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, सम्प्रज्ञात-समाधि और निर्वीज-समाधि के लक्षण बताये। ध्यान की विधि बताई, फिर बड़े ही प्रभावोत्पादक शब्दों में भगवान् के सगुण-साकार स्वरूप के प्रत्येक अङ्गप्रत्यङ्गों का ध्यान-चिन्तन बताया। इस प्रकार योग की अन्तिम स्थिति का बड़े ही उल्लास और युक्ति के साथ भगवान् ने वर्णन किया। फिर भक्ति का मर्म और काल की महिमा का विवेचन किया। भक्ति के बहुभेद बताये, भक्तों के उत्तम से उत्तम सर्वोत्कृष्ट लक्षण बताकर कह दिया कि चाहे 'भक्तियोग' के द्वारा या 'क्रिया-योग' के द्वारा मेरे में चित्त लगाने से साधक मुझे ही प्राप्त कर लेता है। फिर भगवान् ने देह-गेह में आसक्त हुए पुरुषों की संसार में किस प्रकार अधोगति होती है, इसका आरम्भ से लेकर अन्त तक बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कथन किया। कैसे यह जीव प्रारब्ध-वश भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न होता है, कैसे-कैसे क्लेश उठाकर बढ़ता है, फिर किस प्रकार छल कपट-प्रपंच करके पैसा पैदा करता है, घर बनाता है, किसी को अपनी बहू बनाता है, किसी को अपना बेटा बना लेता है, फिर उनके लिये क्रूर- कर्म करता है, बूढ़ा हो जाने पर वे इससे किस प्रकार घृणा करते हैं, कैसा कष्ट होता है, मरकर कौन-कौन से नरकों में जाता है, फिर आकर कैसे माता के उदर में प्रविष्ट होता है, रज-वीर्य के संसर्ग से कैसे बुन्द-बुन्द पिण्ड,

शरीर, हाथ, पैर बनते हैं, पेट में कैसे उसे पिछले सैकड़ों जन्मों की स्मृति रहती है, माता के उदर में कैसा भयंकर क्लेश होता है, कैसे झिल्ली से लिपटा नीचा सिर किये पड़ा रहता है, वहाँ से निकलने के लिये भगवान् से कैसे प्रार्थना करता है, कैसे जन्म होता है। फिर कैसे बालक से युवा होता है, युवावस्था में कैसी मस्ती आती है, यौवन के उन्माद में कैसे-कैसे पाप करता है, युवक-युवती परस्पर में किस प्रकार आकृष्ट हो परमार्थ से च्युत होकर विषयों में आसक्त हो जाते हैं। काम की कितनी वीभत्स क्रीड़ायें हैं, स्त्री का पुरुष के संग से पुरुष का स्त्री के संग से किस प्रकार विवेक नष्ट हो जाता है—इन सभी बातों का भगवान् कपिल ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में उपदेश दिया।

तदनन्तर भगवान् कपिल ने अपनी माता से धूम-मार्ग और अर्चिरादि-मार्ग से जाने वालों की गति का वर्णन किया। भगवान् ने बताया जो लोग सकाम कर्मों का आचरण करते हैं, वे नाना कामनाओं के अनुसार नाना लोकों में जाते हैं। वहाँ पाप पुण्यों को भोगकर कुछ शेष रहने पर कर्मानुसार फिर पृथ्वी पर जन्म धारण करते हैं। सकाम कर्मों से जन्म मरण का चक्कर छूटता नहीं, इसीलिये सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति मार्ग ही है। जिन परमपुरुष परमात्मा के पाद-पद्म-परम-पूजनीय और भजनीय हैं, उन्हीं परमेश्वर का तद्गुणाश्रयी-भक्ति के द्वारा भजन करे यही श्रेष्ठ मार्ग है, यही सरल साधन है, यही सर्वोपयोगी-पथ है और यही प्रभु प्राप्ति का उत्तम उपाय है। वास्तव में मुख्य तत्व तो एक ही है। उपनिषदों में जिसे ब्रह्म कहा गया है, योग शास्त्र वाले उसे परमात्मा या ईश्वर कहते हैं, सांख्यवादी 'पुरुष' कहकर पुकारते हैं, भक्ति शास्त्र में उन्हें ही भगवान् कहा है। ज्ञानी लोग उन्हें निर्गुण ब्रह्म कहते हैं, परम रसिक भक्त उन्हें भगवान् कहकर वन्दना

करते हैं, पूजते और आराधना करते हैं। उनकी प्राप्ति के लिये कोई नाना प्रकार के शुभ कार्य करते हैं। कोई बड़े बड़े यज्ञ याग आदि करते हैं। दान, तप, वेदाध्ययन, वेदान्तविचार, मनोनिग्रह, कर्म, संन्यास, योग, भक्ति, निवृत्ति, प्रवृत्ति मार्गों का ग्रहण सब उन्हीं की प्राप्ति के लिये ही किये जाते हैं, इसलिये चाहे जिस साधन से हो, चित्त को सदा भगवान् में लगाकर सब कर्मों के फलों को उन्हीं को अर्पण करते हुए निरन्तर भगवत्-चिन्तन करते रहना चाहिये, यही जीवन का परम सार है। इसी में मनुष्य जन्म की सार्थकता है, यही जीव मात्र का चरम लक्ष्य है।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार भगवान् अपनी माता को तत्वज्ञान का उपदेश देकर चुप हो गये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा —"सूतजी! भगवान् का चरित्र तो बड़ा ही अद्भुत है। क्या भगवान् ने अपनी माता को इसी प्रकार अत्यन्त संक्षेप में–सूत्र रूप से ही–उपदेश दिया था, या आपने ही उसे इतना संक्षिप्त कर दिया है? इससे तो सूतजी! हमारी तृप्ति हुई नहीं।"

यह सुनकर सूतजी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहने लगे—"महाभाग! आपकी तृप्ति हो कैसे? आप तो परम रसिक श्रोताओं के शिरोमणि ठहरे। कपिल भगवान का चरित्र ही ऐसा है। ये ज्ञानावतार हैं, सत्ययुग के प्रथम ऋषि अवतार हैं। इस 'भागवती कथा' के प्रसङ्ग में मैंने उनके उपदेश का अत्यन्त संक्षेप में यह सार वर्णन किया है। भगवान ने तो अपनी माता को विस्तार से सभी विषयों का उपदेश किया है। मनीषियों ने सांख्य के दो भेद बताये हैं। एकेश्वर-सांख्य, दूसरा निरीश्वर-सांख्य। वर्तमान समय में 'सांख्य दर्शन' नाम से जो ग्रन्थ प्रचलित है, मालूम होता है उसके रचयिता कोई तर्क-प्रधान

कपिल नामक मुनि हैं। तभी तो उन्होंने ईश्वर की सिद्धि में भी सन्देह किया है। कपिल भगवान् का जो सांख्यशास्त्र है उसका वर्णन तो श्रीमद्भागवत में ही विस्तार से मिलता है। इस प्रकार का सुन्दर प्रक्रिया सहित, विस्तार से सांख्य का वर्णन और कहीं भी नहीं मिलता। इसका वर्णन मैं फिर प्रसंगानुसार पृथक् करूँगा। यहाँ विस्तार से वर्णन करने से कथा का प्रवाह रुक जायगा और यदि आपकी आज्ञा ही हो तो कहिये उसी का वर्णन करूँ।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"नहीं, नहीं, सूतजी! हमने केवल आपको स्मरण मात्र दिलाया है। आप जिस ढँग से कह रहे हैं, ठीक है। पहिले आप कथा-भाग को ही समाप्त कर दें। कथाओं के पश्चात् ही आप हमें विस्तार से सांख्य आदि सभी शास्त्रों का रहस्य समझावें। हाँ, तो माताजी को उपदेश देकर भगवान् कपिलदेव ने क्या किया? तत्त्वज्ञान होने के अनन्तर उनकी पूजनीय माताजी की क्या स्थिति हुई? इन सब बातों को बताइये।"

शौनकजी के ऐसे प्रश्नों को सुनकर सूतजी उनका उत्तर देने को उद्यत हुए।

छप्पय

भक्तियोग अति सरल सरस सबके हितकारी।
विप्र, शूद्र, नर-नारि सबहिँ जाके अधिकारी॥
परमात्मा परब्रह्म पुरुष भगवान् कहो हरि।
ज्ञानी करिके ज्ञान लहैं नर भक्त भक्ति करि॥
कपिलदेव के वचन सुनि, मुदित मातु मन अति भयो।
हट्यो मोह आवरण सब, द्वंद कटे तम नसि गयो॥

—o—

भगवान् कपिलदेव का गृह त्याग

[१६५]

इति प्रदर्श्य भगवान् सतीं तामात्मनो गतिम् ।
स्वमात्रा ब्रह्मवादिन्या कपिलोऽनुमतो ययौ ॥*
(श्री भा० ३ स्क० ३३ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

सिद्ध भई जब जननि जोरि जुग कर सिर नायो ।
गद्‌गद्-गिरा गँभीर मातु गुरु गौरव गायो ॥
हौं मति मन्द गँवारि नारि निज नाम सिखायो ।
जाकूँ लैके श्वपच परम शुचि श्रेष्ठ कहायो ॥
जाको कीर्तन करत ही, कलि कल्मष छिनमहँ कटहिं ।
बड़ भागी ते नारि नर, जे तव नामनि कूँ रटहिं ॥

बुद्धि द्वारा विचार कर किसी विषय का निश्चय कर लेना और बात है तथा चित्त की स्वाभाविक वृत्ति और बात है। अपने आत्मीय-जनों के वियोग से बड़े-बड़े त्यागी, विरागी-पुरुषों को भी प्रायः क्षोभ हो जाता है। स्वजनों का स्नेहानुबन्ध मुनियों के लिये भी दुस्त्यज्य बताया गया है। हम किसी के

---

* महामुनि मैत्रेयजी विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी ! इस प्रकार भगवान् कपिल, परम साध्वी माता को आत्मगति अर्थात् ब्रह्मज्ञान का उपदेश करके उस ब्रह्मवादिनी-जननी से अनुमति लेकर वहाँ से चल दिये।"

बच्चे को त्यागी, विरागी महात्मा देखते हैं तो कहते हैं—"अहा, इसके माता-पिता धन्य हैं। इसने अपने दोनों वंशों के पितरों को तार दिया। पुत्र हो तो ऐसा हो।" किन्तु जब अपना पुत्र गृह त्यागकर विरागी बनना चाहता है, तो हमारा हृदय फटने लगता है। इससे कह, उससे कह, नाना-भाँति की युक्तियों से हम उसे रोकना चाहते हैं। उस समय यह ज्ञान प्रायः लुप्त-सा हो जाता है कि इसके त्यागी, विरागी होने से हमारी इक्कीस पीढ़ियाँ तर जायँगी! इसे ही सहज-स्नेह कहते हैं। सहज स्नेह प्रायः अत्यन्त कठिनता के साथ छूटता है।

भगवान् कपिल ने अपनी जननी को योग का, भक्ति का तथा ज्ञान का उपदेश दिया, जीवों की गति बताई, नाना-योनियों में भ्रमण करते हुए जीवों के जन्म-मरण की कहानियाँ सुनाईं! उन्होंने उपदेश देकर, शक्ति संचार करके, माता को पूर्ण आत्म-ज्ञान सम्पन्न बना दिया। अब उन्होंने माता से कहा—"माँ! तुम परमार्थ के रहस्य को समझ गई न ?"

दीनता के स्वर में देवहूति ने कहा—"हाँ, प्रभो! आपकी असीम अनुकम्पा से मेरे सभी संशयों का छेदन हो गया। प्रकृति पुरुष का भेद समझ में आ गया। आत्म-तत्व का गूढ़ रहस्य मैं आपकी दया से समझ गई। अब मुझे क्या करना चाहिये ?"

भगवान् ने कहा—"ज्ञान हो जाने पर माताजी! जीव का कोई कर्तव्य रह नहीं जाता। 'चतुर्थ-भूमिका' में पहुँचने पर जीव, संसार से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। यदि 'सप्तम-भूमिका' में पहुँचने के पूर्व ही उसके शरीर का पतन हो जाता है, तो कुछ ज्ञान में कमी रह जाती है, उसकी तत्काल मुक्ति नहीं होती। ऊपर के दिव्य लोकों में उसे अभ्यास करना पड़ता है। उसके ज्ञान को ब्रह्मलोक में ब्रह्माजी पूर्ण करते हैं और कल्प

के अन्त में ब्रह्माजी के साथ वह मुक्त हो जाता है। जो, क्रमशः-पाँचवीं, छठीं और सातवीं-भूमिका को यहीं प्राप्त कर लेते हैं, उनकी तुरन्त मुक्ति हो जाती है। वे प्रकृति मण्डल के समस्त आवरणों को भेदकर 'सत्यस्वरूप' में लीन हो जाते हैं। सातवीं भूमिका में पहुँचे हुए आत्मज्ञानी पुरुष का शरीर दो-तीन सप्ताहों से अधिक ठहर ही नहीं सकता। क्योंकि वह तो शरीर-धर्मों से ऊँचा उठ जाता है। इसलिये अपने आप वह कोई चेष्टा कर ही नहीं सकता। छठीं भूमिका वाला भी अपने हाथ से कुछ नहीं कर सकता। मनुष्य जिस स्थिति को यहाँ प्राप्त कर लेता है, परलोक में वही स्थिति उसे प्राप्त होती है। अतः जो यहाँ मुक्त हो जाता है, उसी की मुक्ति होती है। इसलिये पंचम-भूमिका के आगे 'तितिक्षा' का ही अभ्यास करना होता है।"

माता ने पूछा—"महाराज ! तितिक्षा क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"आये हुए सुख-दुखों को उनकी निवृत्ति के उपाय के बिना सहन करने का नाम तितिक्षा है जैसे जाड़ा लगते ही हम कपड़े ओढ़ लेते हैं, अग्नि जला लेते हैं, घर में घुस जाते हैं, गरज-जाड़े की निवृत्ति के लिये चेष्टा करते हैं। इस प्रकार की चेष्टा न करने का ही नाम 'तितिक्षा' है। भूख लगते ही हम उसकी निवृत्ति का उपाय सोचते हैं, उसे न सोचना। शरीर पर दंश, मसक, बिच्छू, सर्प आ जाते हैं जिन्हें हटाने को हाथ स्वतः ही पहुँच जाता है। शरीर पर इनके चढ़ने पर भी उन्हें हटाने का प्रयत्न न करना यही सब तितिक्षा है।"

माता ने पूछा—"तब प्रभो ! शरीर की रक्षा कैसे होगी ?"

भगवान् ने कहा—"माँ ! जब तक शरीर का भान है तब तक तो शरीर रक्षा का उपाय करना ही चाहिये। उसी बुद्धि से कि इसी के द्वारा साधन करना है, इसी के द्वारा पार जाना है। जैसे रात्रि में जिस धर्मशाला में ठहरते हैं, उसे झाड़-बुहार कर

स्वच्छ रखते हैं, जहाँ चल दिये उसका ध्यान भी नहीं रखते। इसलिये चौथी-पाँचवी भूमिका तक शरीर रक्षा के लिये कर्म करते हैं। जब शरीर से ऊँचे उठ जाते हैं, तब शरीर रहे न रहे इसकी ज्ञानी को चिन्ता ही नहीं-भान भी नहीं रहता। सर्प को काटना हो काट ले, सिंह को खाना हो खा ले, ज्ञानी का तो उसमें ममत्व रहता ही नहीं। आप, अब तितिक्षा का अभ्यास करें।"

माता ने कहा—"अच्छी बात है। मैं शक्ति भर इस देह के 'अध्यास' को भुलाने की चेष्टा करूँगी। आप तो यहाँ मेरे पास हैं ही।"

भगवान हँसे और बोले—"माताजी! कौन किसके पास रहता है? सभी को स्वयं ही साधन के द्वारा स्थिति प्राप्त करनी पड़ती है। मुझे तो अब आप आज्ञा दें।"

अत्यन्त आश्चर्य के साथ माता ने पूछा—"कहाँ के लिये? आप भी अपने पिता की भाँति मुझे छोड़कर चले जायँगे क्या?"

भगवान् बोले—"माँ! सभी को एक दिन सब कुछ छोड़कर चला ही जाना है। जब विवश करके काल हमें सबसे छुड़ा ही देगा, तो हम ही स्वयं इनमें से अपना ममत्व हटाकर-इन सबको छोड़कर-क्यों न चले जायँ?"

माँ ने अन्यमनस्क भाव से कहा—"हाँ प्रभो! यह तो सत्य ही है, किन्तु आपके लिये क्या छोड़ना-क्या ग्रहण करना। आप तो सदा-सर्वदा सबसे पृथक ही हैं।"

भगवान् ने कहा—"माँ, यह सब सत्य है फिर भी मुझे त्याग का आदर्श तो उपस्थित करना ही है। मुमुक्षुओं को उपदेश तो देना ही है। आपका भी मेरे प्रति, ज्ञान होने पर भी कुछ-न-कुछ ममत्व है ही! वह मेरे पृथक होने पर ही छूट सकेगा!! अतः मुझे आज्ञा दीजिये।" इतना कहकर भगवान् कमंडलु उठाकर चलने को उद्यत हुए।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! यद्यपि माता देवहूति को ज्ञान हो गया था, उन्होंने संसार का मिथ्यात्व समझ लिया था, फिर भी मातृ-हृदय तो मातृ-हृदय ही है। अपने हृदय के टुकड़े को, अपनी बाह्य-आत्मा को, अपने प्राणों से प्यारे परमात्मा स्वरूप पुत्र को जाते देख माता का हृदय भर आया। उसकी आँखों से प्रेमाश्रुओं की दो-धारायें बहने लगीं, कण्ठ रुद्ध हो गया, जैसे गौ, अपने हाल के जाये बछड़े के बिछुड़ने पर दुखी होती है, उसी प्रकार माता दुखी हो गईं। पुत्र-वियोग की बाढ़ ने तत्व-ज्ञान को बहा दिया। मायामोह से रहित, विवेक वैराग्य की साक्षात् सजीव-मूर्ति भगवान् कपिल ने अपनी ब्रह्मवादिनी-माता को प्रणाम किया। माता ने भी गुरु-भाव से उनकी पूजा और प्रदक्षिणा की। इस प्रकार परस्पर वन्दित और सत्कृत होकर एक दूसरे से पृथक् हो गये। भगवान् कपिल, अपनी माता को वहीं सरस्वती के तट पर सिद्धाश्रम में छोड़कर उत्तर और पूर्व के मध्य की दिशा ईशान कोण की ओर चले गये।

वहाँ से चलकर भगवान्, गंगा के तट पर आये और श्रीगङ्गाजी की शोभा निहारते हुए उनके किनारे-किनारे ही चल दिये। त्रिपथगामिनी भगवती-सुरसरी के तट की शोभा देखते हुए वे वहाँ पहुँचे, जहाँ शैलसुता भगवती गङ्गा का समुद्र के साथ सङ्गम होता है, जिसे 'गङ्गासागर' कहते हैं। भगवान् के वहाँ पहुँचते ही समुद्र ने सशरीर आकर उनका स्वागत-सत्कार किया। वहाँ पहुँचने पर आकाशचारी-सिद्ध, गन्धर्व, चारण, विद्याधर, ऋषि, मुनि तथा देवता और अप्सरायें सभी ने उनकी स्तुति की। उनके ऊपर पुष्पों की वृष्टि की।

समुद्र से भगवान् ने कहा—"देखो, हम यहीं रहना चाहते हैं तुम हमें स्थान दो।"

समुद्र ने विनीत भाव से कहा—"प्रभो ! यह मेरा बड़ा सौभाग्य है, जो आप मुझे कृतार्थ करना चाहते हैं, मुझे दैव-दुर्लभ सौभाग्य प्रदान करना चाहते हैं। मैं यहाँ से हट जाता हूँ, आपके लिये एक टापू छोड़ देता हूँ। आप उसमें सदा निवास करें ।"

भगवान् ने कहा—"नहीं, हम जल के भीतर ही रहकर योगाभ्यास करेंगे। वहीं तीनों लोकों को शान्ति प्रदान करने के लिये घोर तपस्या करेंगे तथा सांख्याचार्यों और सिद्धों को उपदेश करेंगे।"

समुद्र ने कहा—"भगवन् ! इस मर्त्यलोक के प्राणियों को भी तो आपके दर्शन होने चाहिये। उन्हें भी तो आपके स्थान की यात्रा का पुण्य-अवसर प्राप्त होना चाहिये।"

भगवान् ने प्रसन्न होकर कहा—"अच्छी बात है, साल में एक दिन मकर की सक्रान्ति के दिन तुम यहाँ से हट जाया करो, उस दिन यहाँ आकर जो मेरे दर्शन करेंगे, वे अक्षय पुण्य के अधिकारी होंगे।"

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! समुद्र ने भगवान् की आज्ञा स्वीकार करली। इसलिये आज तक भी मकर की संक्रान्ति के दिन समुद्र वहाँ से हट जाता है। दूर-दूर से यात्री आकर सङ्गम स्नान और भगवान् कपिल की अर्चा मूर्ति के दर्शन करते हैं। किन्हीं-किन्हीं भाग्यशाली को भगवान् कपिल के प्रत्यक्ष दर्शन भी होते हैं। इस प्रकार भगवान् कल्प पर्यन्त वहाँ रहकर तपस्या में निरत हैं। यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप में भगवान् कपिल का चरित्र आपको सुनाया। अब माता देवहूति का समाचार सुनिये।"

—०—

छप्पय

स्तुति सुनि के कपिल मातु तैं आज्ञा लीन्हीं।
गृह तजि बन कूँ गवन करन की इच्छा कीन्हीं॥
ज्ञान लाभ हू भयो तऊ जननी वियोग भय।
बछरा बिछुरत गऊ होहि ब्याकुल ज्यों अतिशय॥
सुर मुनि पूजित कपिल हरि, गङ्गासागर ढिँग गये।
हरषि उदधि आलय दयो, सुखासीन प्रभु तहँ भये॥

माता देवहूति को ब्रह्म प्राप्ति

[१६६]

एवं सा कपिलोक्तेन मार्गेणाचरितः परम् ।
आत्मानं ब्रह्म निर्वाणं भगवन्तमवाप ह ॥
तद्वीरासीत्पुण्यतमं क्षेत्रं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
नाम्ना सिद्धपदं यत्र सा संसिद्धिमुपेयुषी ॥*

(श्री भा० ३ स्क० ३३ अ० ३०, ३१ श्लो०)

छप्पय

कन्या निज गृह गई पुत्र पति ने घर त्याग्यो ।
मातु हृदय वैराग्य ज्ञान सुनि अतिशय जाग्यो ॥
बहु वैभव सम्पन्न सर्व सुखमय तजि निज घर ।
सत् चित् आनँद रूप ब्रह्म में निरत निरन्तर ॥
वस्त्रहीन सब खुले कच, तपोयोगमय दिव्य तनु ।
परमानन्द निमग्न मन, सिद्धि भई साकार जनु ॥

मनीषियों ने नित्य, मुक्त, बद्ध और मुमुक्षु—ये चार जीवों के भेद बताये हैं। नित्य जीव वे होते हैं, जो कल्प पर्यन्त रह

*महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"हे वीर विदुरजी ! इस प्रकार भगवान् कपिलदेवजी के बताये हुए मार्ग से देवहूतिजी ने अल्पकाल में ही अपने आत्मस्वरूप ब्रह्म-निर्वाण भगवान् को प्राप्त कर लिया। जिस स्थान पर उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई वह स्थान परम पावन हुआ और त्रैलोक्य में वह 'सिद्धिपद' के नाम से विख्यात हुआ।"

कर सृष्टि के कार्य में सहयोग देते हैं, जैसे मनु प्रजापति, इन्द्र आदि। मुक्त वे कहलाते हैं जिन्हें अनित्य पदार्थों के प्रति अहंता-ममता नहीं, जो अपना कोई निज का कर्तृत्व नहीं समझते, जैसे नारद, शुक, सनकादि। बद्ध ये अज्ञानी जीव हैं, जो असत् को सत् समझ कर उन्हीं में आसक्त रहकर कर्म कर रहे हैं, जैसे संसारी मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता आदि। मुमुक्षु वे कहलाते हैं जिनके मन में यह जिज्ञासा होती है, कि इस दृश्य-जगत के परे क्या है? अन्य युगों में नित्य और मुक्त पुरुषों के दर्शन होते थे, किन्तु कलिकाल में किसी भाग्यशाली को छोड़कर इनके दर्शन नहीं होते। अब तो बद्ध और मुमुक्षु दो ही प्रकार के दिखाई देते हैं। जिन्हें परमात्मा, परलोक के बारे में अनुराग नहीं, स्वभाववश कर्मों में आसक्त रहकर संसारी वैषयिक-पदार्थों की प्राप्ति के ही लिये प्रयत्नशील रहना वे परम पुरुषार्थ मानते हैं। खाना, सन्तानें बढ़ाना, शरीर का, परिवार का पालन-पोषण करते रहना, यही उनका नित्य व्यापार है। जिनके मन में इस संसार के स्वामी के विषय में कोई जिज्ञासा नहीं उठती, संसार बन्धन से मुक्त होने की इच्छा नहीं होती, विषयों में ही सुख समझते हैं, ऐसे जीव चाहें मनुष्ययोनि में, चाहे पक्षी या वृक्षादि योनियों में हों, ये सभी बद्ध कहलाते हैं।

जिनको यह संसार अनित्य-सा, बन्धन रूप दिखाई देता है, जिनके मन में संसार बन्धन से मुक्त होने की इच्छा का अंकुर उत्पन्न हुआ है, उन्हें मुमुक्षु कहा है। समस्त शास्त्रों का उपदेश ऐसे मुमुक्षु-लोगों के ही लिये है। मुक्त तो मुक्त ही ठहरे, नित्य भी सामर्थ्यवान हैं। बद्धों को उपदेश करना व्यर्थ है। जिसने गले तक तालाब का गन्दा जल पीकर अपने पेट को भर लिया है, उसे गंगा जल देना व्यर्थ है! वह पीवेगा ही नहीं। जिसे ज्ञान की पिपासा है, परमार्थ का उपदेश उन्हीं के लिये है।

जिज्ञासु पुरुष को ज्यों ज्यों अधिकाधिक ज्ञान होता जाता है, यह अनित्य-नाशवान् संसार उसकी दृष्टि से उतना ही हटता जाता है और उसकी स्थिति उतनी ही उन्नत होती जाती है। वह एक के पश्चात दूसरी और दूसरी के पश्चात् तीसरी, इस प्रकार ज्ञान की भूमिकाओं को पार करता हुआ इस संसार में ही जीवन्मुक्त हो जाता है। जीवत्व का बीज, अहंता-ममता का भास, शरीर में अहंता की दृढ़ धारणा, नाना प्रकार मन में ऊहा-पोह उठते रहना, मन से ही विविध प्रकार के सङ्कल्प-विकल्प करते रहना, स्वप्न में सांसारिक पदार्थों का चिन्तन, शरीर ही सत्य है-सब कुछ है, इसकी प्रतीति और वृक्षों की भाँति चेष्टा-हीन हो जाना, ये सब अज्ञान के लक्षण हैं। दैव-वशात् भगवत्-कृपा से जीव जब इस अज्ञानता से मुक्त होकर आत्मा की जिज्ञासा करने लगता है, तो वह जिज्ञासु शास्त्र श्रवण का अधि-कारी तथा मुमुक्षु कहलाता है। ज्ञान की अनन्त भूमिकायें हैं किन्तु तत्ववेत्ताओं ने सात भूमिकाओं को मुख्य माना है। भूमिका चित्त की अवस्था का नाम है। इन सात अवस्थाओं में चार सिद्धि रूपा और तीन साधन रूपा हैं। प्रथम भूमिका 'शुभेच्छा' कहलाती है। जब सांसारिक विषयों से चित्त हटकर जीव के हृदय में ये भाव उठने हैं कि मेरा जीवन व्यर्थ ही जा रहा है, मैं भी पशु, लता, वृक्ष की भाँति विषयों में फँसकर मूढ़ हो रहा हूँ, कुछ शास्त्र-चिन्तन, सतसङ्ग भी करना चाहिये। ऐसी शुभ इच्छा जिन जीवों के हृदय में प्रबलता से उठती रहे उन्हें समझना चाहिये कि ये बड़भागी, ज्ञान की प्रथम भूमिका में स्थित हैं। ऐसी इच्छा होते ही पुरुष उन्नति के पथ की ओर अग्रसर हो जाता है।

दूसरी भूमिका का नाम है 'विचारणा' शुभेच्छा होने पर साधु-पुरुषों का सत्संग करना, शास्त्र-श्रवण का अभ्यास करना

विषयों से विराग होना, यह शुभ विचारणा की स्थिति है। इसी प्रकार सत्संग और सत्-असत् का विचार करते-करते मन अत्यन्त सूक्ष्म हो जाय, यह भान होने लगे कि वास्तव में यह सत्य है-यह मिथ्या है, चित्त की ऐसी सूक्ष्म स्थिति का ही नाम 'तनुमानसा' है। यह ज्ञान की तीसरी भूमिका कहलाती है। ये तीनों तो अभ्यास काल में होने से साधन रूपा हैं। अब चौथी भूमिका का नाम 'सत्त्वोपत्ति' है। जब तीनों अवस्थायें दृढ़ हो जायँ, संसार से वैराग्य हो जाय और श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा आत्म-स्वरूप में स्थिति हो जाय, तब समझना चाहिये कि हमारी साधनावस्था समाप्त हो गई। हमें यथार्थ ब्रह्मज्ञान हो गया। अब आगे कुछ करने को शेष नहीं रहता।

ऐसी अवस्था होने पर यह सांसारिक माया तो कुछ बाधा देती नहीं किन्तु फिर भी अणिमा-महिमा आदि दिव्य विभूतियाँ आकर अपनी सेवायें समर्पित करती हैं। उनमें भी आसक्ति न होकर ब्रह्म पर ही अपना लक्ष्य लगाये रहने का नाम 'असंसक्ति' है। यही ज्ञान की पाँचवीं भूमिका है। इस अवस्था में चित्त सदा आत्मानन्द में मग्न रहता है, किन्तु संसार का भी भास होता है। योग्य अधिकारी मिलने पर आत्म-ज्ञान का उपदेश भी दिया जा सकता है। छठीं भूमिका में पहुँचकर यह संसार दिखाई नहीं देता, निरन्तर आत्मानन्द में मग्न रहते हैं। शरीर की भी सुधि नहीं रहती। अभ्यास-वश, किसी ने मुँह में कुछ डाल दिया तो निगल लिया। कहीं चल दिये तो चलते ही रहे, बैठे तो बैठे ही रह गये। किसी से बात नहीं, चीत नहीं। शरीर से वस्त्र उतर गया तो उसका भान नहीं। किसी ने अङ्ग काट दिया, उसकी पीड़ा नहीं। सुगन्धित पदार्थ लगा दिया, उसका सुख नहीं! इसका नाम 'पदार्थाभाविनी' भूमिका है। ये छः भूमिकाएँ जहाँ पराकाष्ठा को पहुँच जाती हैं, उसी का नाम

सातवीं–'तुरीय' भूमिका है। इनमें पहले की तीन अवस्थायें जाग्रत-जगत् की हैं, चौथी ब्रह्मज्ञानी की है, पाँचवीं, छठीं, सातवीं जीवन्मुक्त-पुरुषों की हैं। इन सातों से भी परे एकआठवीं 'तुरीयातीत-अवस्था' भी है, जिसमें विदेह–मुक्त पुरुष रहते हैं। वे देखने में नहीं आते।

ज्ञान की शुभेच्छा उत्पन्न होना ही बड़े भाग्य की बात है, फिर साधन करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना तो मानों समस्त द्वन्द्वों को जलाञ्जलि देना है। चौथी अवस्था में ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके ज्ञानी, जल में कमल-पत्र की भाँति रहकर सब कार्य कर सकते हैं। ब्रह्मज्ञानी, आचार्य बनकर उपदेश करते हैं। राजा बन के शासन करते हैं !! त्यागी बन के विचरण करते हैं, सिपाही बनकर युद्ध करते हैं, अनेक व्यापार करते हुए भी वे उनके फलों में आसक्त नहीं होते। निरहंकार पूर्वक किये हुए कर्म, बन्धन के हेतु नहीं होते। राजर्षि जनक, भगवान वेदव्यास, नारद आदि इसी भूमिका मे स्थित रहकर लोकोपकार करते हैं। वैसे तो व्यास, नारदादि ईश्वर के अवतार ही हैं। इनकी भूमिका क्या है, ये तो भूमिका से परे हैं। फिर भी स्थिति समझाने को यह बात कह दी।

पाँचवी भूमिका—असंसक्ति में रहकर जीवन्मुक्त पुरुष लोकबाह्य-सा बन जाता है। उसे अपने पराये का भान नहीं रहता। यह दृश्य जगत् कभी-कभी उन्हें स्फुरित हो उठता है। जिस प्रकार चौथी भूमिका के ब्रह्मज्ञानी पुरुष निरन्तर उपदेश करते हैं, सबसे हँसते-बोलते हैं, जैसे के साथ तैसा व्यवहार करते हैं, पाँचवीं भूमिका में यह व्यवहार नहीं रहता। हाँ कभी कोई अत्यन्त ज्ञानी पुरुष आ गया, तो उसे उपदेश भी दे देते हैं, नही तो अपने को छिपाये पागलों की भाँति घूमते हैं। जड़भरत, भगवान् दत्तात्रेय इसी भूमिका में स्थित होकर विचरण करते हैं।

जड़भरतजी वैसे तो पागल से घूमते थे, जिसने जो कहा वही कर दिया। पालकी में लगाया। उसी में लग गये। बलि चढ़ाने ले गये, वहाँ बैठकर पेड़े उड़ाने लगे। किन्तु रहूगण को अधिकारी समझकर उसके सामने महान-ब्रह्मज्ञान का उपदेश भी दे डाला और स्पष्ट कह दिया—"बच्चूजी! हम भी एक दिन राजा थे, तू तो एक देश का राजा है, हम समस्त वसुन्धरा के राजा थे।" इसी प्रकार भगवान् दत्तात्रेय कुत्तों को लिये पागलों की तरह घूमते हैं, किन्तु कभी यदु को, कभी सहस्रार्जुन को उपदेश भी दे दिया।

छठीं—भूमिका में उपदेश आदि नहीं दिया जाता, बाह्यज्ञान भी नहीं रह जाता। शरीर पर वस्त्र आदि भी नहीं रहता, मल-मूत्र का भी ज्ञान नहीं रहता। किसी ने अन्न खिलाया तो खा लिया, गोबर खिलाया तो उसे भी खा गये। भगवान्—"ऋषभदेव आदि अवधूतों ने इसी भूमिका का प्रदर्शन किया है।"

इन चौथी, पाँचवीं. छठीं भूमिकाओं में ब्रह्मज्ञानी प्रारब्ध-वश यन्त्र की भाँति चलता-फिरता रहता है, किन्तु सातवीं भूमिका में तो शरीर के कुछ व्यापार होते ही नहीं। किसी ने उठाकर बैठा दिया तो बैठ गये, लिटा दिया तो लेट गये, कोई वस्तु मुँह में डाल दी, तो वह मुँह में ही रखी है, निगलते भी नहीं। यह सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। संसार का सर्वथा लोप हो जाता है, वृत्ति अत्यन्त ऊँची चढ़ जाती है। इस स्थिति में शरीर इक्कीस या बाइस दिन से अधिक नहीं टिकता। ये सब भूमिकायें ज्ञान की हैं, किन्तु भगवत्-भक्त को ये केवल विशुद्ध-भक्ति के द्वारा स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। भगवती-देवहूति को तीव्र-भक्ति योग के द्वारा ही यह सातवीं भूमिका की स्थिति प्राप्त हुई थी।"

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! जब भगवान् कपिल वन को चले गये, तो माताजी, भगवती-सरस्वती तट

पर विन्दु-सरोवर के समीप अपने सर्व-सुख सम्पन्न, सर्व-ऐश्वर्य परिपूर्ण विमान में आकर रहने लगीं। जिस अनुपम—सुख की वांछा स्वर्गीय-ललनायें भी बड़े लालच के सहित करती हैं, उस दिव्य गार्हस्थ्य-सुख को माताजी ने सर्वथा त्याग दिया। वे सरस्वती के सुखद, सुन्दर, स्वच्छ, शीतल-सलिल में तीनों काल स्नान करतीं, स्नान करके न बालों को सुखातीं न उनमें कंघी करतीं। इससे उनके वृद्धावस्था के बालों की भूरी-भूरी जटायें बन गईं। एक अत्यन्त ही मलिन-वस्त्र पहिने वे ध्यान मग्न रहने लगीं।

यद्यपि, वे भगवान् कर्दम के तपोवल से प्राप्त उस दिव्य विमान में ही रहती थीं, किन्तु उसकी किसी भी वस्तु का वे अब उपभोग न करतीं। वे दूध के झागों की भाँति सुन्दर-शैय्यायें सूनी पड़ी रहतीं। हाथी दाँत के सुवर्ण मंडित पायों वाले विशाल-विशाल पलँग, जिनमें ऐसे गुदगुदे गद्दे बिछे थे कि बैठते ही ऐसा लगता मानों धुनी हुई रूई के ढेर में लेट गये हों! पुष्पों की पंखड़ियों से भी अत्यन्त कोमल गद्दे थे, कोमलातिकोमल तकिये थे, वे यों ही पड़े थे। सुवर्ण के, चाँदी के, असंख्यों मणि–रत्न–जटित बर्तन थे! वैदूर्य्य और मुक्ता-मणियों की वेदियाँ चमाचम चमक रही थीं। असंख्यों—अमूल्य–रेशमी–सुवर्ण के काम के वस्त्र थे। चारों ओर मणियों का प्रकाश फैल रहा था। हजारों विद्याधरी युवतियाँ अपनी चमक-दमक और चाकचिक्य से बिजली की भाँति इधर से उधर शोभा बिखेरती हुई घूम रही थीं, किन्तु अब माताजी का उन सबकी ओर ध्यान ही नहीं जाता।

सदा की भाँति इस साल भी बसन्त आया। आया क्या, वहाँ तो बारहों महीने बसन्त रहता था। उनके उद्यान में कल्प-वृक्ष की भरमार थी, जिनमें कभी पतझड़ होता ही नहीं था।

सदा फूले रहते थे। मधुलोलुप-भ्रमर सदा उनके ऊपर गुञ्जार करते रहते। सदा अपने पुष्पों की गन्ध से योजनों तक उस आश्रम प्रदेश को सुवासित करते रहते। उनका उद्यान स्वर्गीय उद्यानों से भी बढ़कर था। माताजी को अब कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अब तो उन्हें बार-बार अपने परमेश्वर-पुत्र का उपदेश याद आता था। ऐश्वर्य भोग तथा संसारी समस्त पदार्थों से वे नितान्त उपरत हो गई थीं।

भगवान् कपिल ने जो ध्यान का मार्ग बताया था, वे उसी का अभ्यास करने लगीं। कपिलदेव ने भगवान् के सगुण-साकार रूप के अंगों का क्रमशः जैसे-जैसे ध्यान बताया था, उसी प्रकार तीव्र भक्तियोग के प्रवाह से, तथा विधिवत् षोडशादि तरह पूजन करने से उनकी दृष्टि से संसार ओझल होता गया। निरन्तर ध्यान मग्न रहने से उनका जीव भाव निवृत्त हो गया। इससे वे समस्त कायिकक्लेशों से छूटकर परमानन्द में निमग्न हो गई।

अब, उन्हें अपने शरीर का भान ही न रहा। शरीर से वस्त्र उतर गया है, नंगी ही बैठी हैं। बैठी तो बैठी ही रहती हैं, दासियों ने लिटा दिया – लेटी ही हैं। खड़ा कर दिया तो खड़ी ही हैं। मुँह में ग्रास रख दिया तो रखा है। वे न कुछ खाती थीं न पीती थीं। इतने पर भी उनका मुख मण्डल, शरद् कालीन चन्द्रमा के समान चमकता रहता। धूलि से भरा हुआ शरीर ऐसा प्रतीत होता, मानो खानि से निकाली बिना खराद पर चढ़ाई मणि दमक रही हो। न खाने पर भी, परमानन्द की आभा से उनका दिव्य-वपु दुर्बल नहीं हुआ था, क्योंकि मन तो सदा दिव्य-रस का आस्वादन करता रहता था।"

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार माता देवहूति ने अपने पुत्र भगवान् कपिल के उपदेश के अनुसार अभ्यास करने पर अल्पकाल में ही सिद्धि प्राप्त कर ली। उन्होंने

आत्मस्वरूप, नित्य मुक्त परब्रह्म-परमात्मा को प्राप्त कर लिया। जहाँ पर माताजी को सिद्धि मिली, वह संसार में 'सिद्धिपद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ—जिसे मातृ-गया भी कहते हैं। शरीर में दैहिक-मल का लेश भी न रहने से ब्रह्म प्राप्ति के अनन्तर माताजी का शरीर एक स्वच्छ सलिल वाली सरिता के रूप में परिणित हो गया। हे विदुरजी! मैंने यह परम पावन भगवान् कपिल और उनकी पूजनीया-माताजी का चरित्र अत्यन्त संक्षेप में आपको सुनाया—अब आप और क्या पूछना चाहते हैं?"

विदुरजी ने कहा—"भगवन् यह तो आपने अत्यन्त ही पावन चरित्र सुनाया। इसे सुनकर तो मेरी तृप्ति ही नहीं होती। इच्छा होती है, बार-बार इसे ही सुनता रहूँ।"

इस बात से प्रसन्न होकर भगवान् मैत्रेय बोले—"विदुरजी! यह चरित्र है ही ऐसा, जो इसे भक्ति-भाव से प्रेमपूर्वक पढ़ेंगे-सुनेंगे उन्हें भी अवश्य ही भगवत-चरणारविन्दों की प्राप्ति होगी। आप श्रवण करके इसे बार-बार विचारें और अवसर मिलने पर 'सिद्धिपद' (मातृगया) अवश्य जायँ। उस क्षेत्र में जाने से ही मनुष्य, महान् पुण्य प्राप्त करता है। अब मैं आगे की कथा सुनाऊँगा। भगवान् कर्दम के वंश का वर्णन करूँगा। उसे भी आप ध्यान से सुनें।"

छप्पय

छठ भूमिका पार करी सतवीं महँ निशि दिन।
रहें, करें नहिं कछु काज भगवत चिन्तन बिन॥
यों माता ने 'तुरिय' भूमिका प्रकट दिखाई।
प्रेमयोग ते परा भक्ति की 'पदवी' पाई॥
मातृगया वो सिद्धपद, सिद्धि मातु पाई जहाँ।
दैहिक मल ते रहित तनु, सरिता बनि विहरै तहाँ॥

—०—

दत्तात्रेय भगवान् के अवतार का उपक्रम

[१६७]

अत्रेर्गृहे सुरश्रेष्ठाः स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ।
किञ्चिच्चिकीर्षवो जाता एतदाख्याहि मे गुरो ॥*
(श्री भा० ४ स्क० १ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

देवहूति की कथा सुनी मनुपुत्री-मँझली ।
आकूती रुचि वरी प्रसूतो पुत्री-पिछली ॥
दक्षनारि बनि जने पुत्र-पुत्री अति श्रेष्ठा ।
यज्ञ-पुरुष अवतार जननि आकूती ज्येष्ठा ॥
अनसूया कर्दम सुता, तीन देव वश करि लये ।
"पुत्र होहिं प्रकटैं उदर" तैं, तीनों मिलि वर दये ॥

श्रीहरि ही अपने अनेक रूप बनाकर इस जगत् में विहार कर रहे हैं। वे ही कर्ता हैं, वे ही भोक्ता हैं। वे ही कार्य हैं, वे ही कारण हैं वे ही उत्पन्न करते हैं, फिर उत्पन्न किये आत्मांश भूत-जीवों का पालन करते फिर अपने आप में मिला लेते हैं। जैसे एक ही अग्नि नानारूपों में भासती है, एक ही वायु देश, काल

---

* श्रीविदुरजी महामुनि मैत्रेयजी से पूछते हैं—'हे गुरो ! ब्रह्मा-विष्णु और महेश ये तो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के हेतु हैं। इन तीनों ने क्या काम करने की इच्छा से अत्रि-मुनि के यहाँ अवतार लिया इस कथा को कृपा करके मुझे सुनाइये।"

के भेद से सुगन्धि, दुर्गन्धि-युक्त-सी दिखाई देती है। इसी प्रकार एक ही प्रभु नाम, रूप-आकृति आदि के भेद से अनेक भाँति के भासते हैं। जब वे ही वे हैं, तब बन्धन-मोक्ष का प्रश्न ही नहीं। उनकी क्रीड़ा है आनन्द के लिए, विहार के लिए वे लीला कर रहे हैं। इस सृष्टि का भगवत् इच्छा के अतिरिक्त और कोई कार्य ही प्रतीत होता नहीं। जीवों के कर्म-भोग आदि के नियन्ता तो वे ही हैं। वे अपने नाभि-कमल से चतुरानन-ब्रह्माजी को उत्पन्न करते हैं, उनके हृदय में सृष्टि रचना की अत्युत्कट इच्छा भी वे ही उत्पन्न करते हैं। सृष्टि रचना में विविधि भाँति से उन्हें सहायता देते हैं। जिस कार्य को ब्रह्माजी करने में अपने को असमर्थ पाते हैं, उसे श्रीहरि स्वयं अवतार धारण करके करते हैं। इसलिए सृष्टि में सर्वत्र उनका ही पराक्रम है, उनकी ही विजय है। ब्रह्मा, प्रजापति आदि रूपों से इसे रचते हैं, अनेक अवतारों द्वारा इसका पालन करते हैं और काल, यम, रुद्र रूप से इसका संहार करते हैं। इस समय सृष्टि का प्रसङ्ग चल रहा है। विदुरजी महामुनि मैत्रेयजी से सृष्टि सम्बन्धी प्रश्न पूछ रहे हैं।

विदुरजी ने कहा—"भगवन! यह बात तो मैंने आपके श्रीमुख से सुनी कि ब्रह्माजी ने अपने विभिन्न अंगों से मरीचादि दश—प्रजापति—ऋषियों को उत्पन्न किया। फिर स्वयं साक्षात् ब्रह्माजी के ही शरीर के दो भाग हो गये। एक से आदि-मानव स्वायंभुवमनु हुए और दूसरे से आदि-स्त्री श्रीशतरूपा हुई। उनके प्रियव्रत, उत्तानपाद ये दो पुत्र और आकृति, देवहूति और प्रसूति ये तीन कन्यायें हुईं। आपने बड़ी आकृति का चरित्र न कहकर पहिले, देवहूति का वर्णन किया। इसका कारण मैंने यही समझा, कि भगवान् कपिल का चरित्र प्रधान है इसलिये उचित ही था। अब आप मुझे इन तीनों पुत्रियों के

पुत्र, पौत्रों की कथा सुनाइये, क्योंकि ये तीनों ही प्रजापतियों की पत्नियाँ हुईं। तीनों के ही द्वारा सृष्टि की वृद्धि हुई। इन तीनों के वंश में बड़े-बड़े ब्रह्मर्षि, राजर्षि और अवतार प्रकट हुए, जिन्होंने अपनी भगवत-भक्ति और कीर्ति के द्वारा त्रैलोक्य को पावन बना दिया।"

विदुरजी के ऐसे प्रश्न को सुनकर महामुनि मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी! आपने अत्युत्तम प्रश्न किया। भगवान् स्वायंभुवमनु के वंशजों ने ही समस्त पृथ्वी पर धर्म का प्रसार और प्रचार किया। इनकी वंश परम्परा में भगवान् के बहुत से अवतार हुये। अच्छा, तो सुनिये, मनुदेव के प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र थे, इनका चरित्र तो मैं आगे कहूँगा। इस समय उनकी कन्याओं के वंश सुनिये।

भगवान् स्वायंभुवमनु ने अपनी बड़ी कन्या आकूति का विवाह 'रुचि' नामक प्रजापति के साथ किया, पुत्रिका-धर्म के द्वारा!"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! पुत्रिका-धर्म कैसा? उसमें क्या नियम होता है?"

मैत्रेयजी ने कहा—"विदुरजी! कन्या देते समय वर से यह प्रतिज्ञा करा ले कि इस कन्या के जो पुत्र होगा वह मेरा पुत्र कहलावेगा, उसे मैं ले लूँगा। यही पुत्रिका-धर्म कहलाता है।"

तब विदुरजी बोले—"भगवान् मनु के तो प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र थे, फिर उन्होंने अपनी कन्या, पुत्रिका-धर्म से भगवान् रुचि को क्यों दी?"

यह सुनकर मैत्रेयजी बोले—"विदुरजी! उस समय सृष्टि तो बहुत थी नहीं, सभी को इच्छा होती थी हमारे बहुत पुत्र हों। जो बहुत सन्तान वाला होता था वही श्रेष्ठ समझा जाता

था। इसलिये बहुत सन्तानों का पिता कहलाने के ही लिये मनु महाराज ने ऐसा किया होगा। फिर उन्हें ध्यान में ज्ञात भी हो गया होगा कि इसके गर्भ से भगवान् का अंशावतार होगा इसीलिये ऐसा किया हो। हाँ-तो भगवती-आकूति के, परम-समाधि द्वारा भगवान्-रुचि ने दिव्य तेज सम्पन्न एक पुत्र-रत्न उत्पन्न किया। वे यज्ञ स्वरूप स्वयं साक्षात्-श्रीहरि के अंशावतार थे।"

विष्णु भगवान् ही यज्ञ-रूप में अवतीर्ण हुए। जहाँ विष्णु वहाँ उनकी छाया लक्ष्मीजी रहती हैं। अतः दक्षिणा नाम से लक्ष्मी भी वहीं उत्पन्न हुईं।"

इस पर विदुरजी ने कहा—"इन भगवान्-यज्ञ ने कौन-सा विशिष्ट कार्य किया?"

भगवान् मैत्रेय बोले—"इन्होंने एक मन्वन्तर पर्यन्त तीनों लोकों का शासन करके, शासन करने की पद्धति प्रचलित की। यह आदर्श उपस्थित किया कि त्रैलोक्य का पालन कैसे किया जाता है?"

विदुरजी ने पूछा - "इस बात को स्पष्ट समझावें कि त्रैलोक्य का पालन कैसे होता है?"

मैत्रेयजी बोले—"ब्रह्माजी के एक दिन में चौदह मनु बदल जाते हैं। इन मन्वन्तरों में भगवान् अपने छः रूप रखकर प्रजा का पालन करते हैं। मनु, मनु-पुत्र, देवताओं का समूह, इन्द्र, सप्तर्षि और भगवान् का एक अंशावतार-ये ही भगवान् के छः रूप हैं, प्रत्येक मन्वन्तर में ये बदल जाते हैं। फिर इनके स्थान पर दूसरे होते हैं। यज्ञ-भगवान् अंशावतार तो थे ही, स्वयं ही इन्द्र बन गये। भगवती-दक्षिणा से उन्होंने तोष, प्रतोष, सन्तोष, भद्र, शान्ति, इडस्पति, इध्म, कवि, विभु, स्वन्ह, सुदेव और रोचन ये बारह पुत्र उत्पन्न किये। उस

प्रथम स्वायंभुव-मन्वन्तर में अपने इन पुत्रों को ही भगवान् ने देवताओं का गण बनाया। तथा मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और भृगु इन सात महर्षियों को 'सप्तर्षि' बनाया। स्वायंभुवजी तो मनु थे ही। उनके पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपाद हुए। इस प्रकार छः-रूप से होकर भगवान् ने पूरे मन्वन्तर पर्यन्त त्रैलोक्य का शासन किया। यह सबसे प्रथम मन्वन्तर था।"

विदुरजी ने पूछा—"जब भगवान्-यज्ञ स्वयं इन्द्र हो गये तब अंशावतार कोई दूसरा उस मन्वन्तर का और हुआ था क्या ?"

इस पर मैत्रेयजी ने कहा—"नहीं, वे ही भगवान्, इन्द्र हुए और वे ही अवतार। यह आवश्यक नहीं कि दो ही हों। इन्द्रपद पर ब्रह्मज्ञानी भी पहुँच जाते हैं। कभी नित्य पुरुष, कभी मुमुक्षु और कभी-कभी पुण्य-प्रभाव से बद्ध-जीव भी इन्द्र हो जाते हैं। भगवान् अवतार लेकर चाहे जो लीला करने लगें। मनु हो जायँ मनुपुत्र हो जायँ, इन्द्र हो जायँ उपेन्द्र हो जायँ, पशु-पक्षी, कच्छ, मच्छ, जो उनकी इच्छा हो वही बन जाते हैं।"

इस प्रकार स्वायंभुव-मन्वन्तर में, मनुदेव के पुत्रिका-धर्म से हुए पुत्र यज्ञ-भगवान् ने इन्द्रपद का उपभोग किया। संक्षेप में यह आकूति देवी के वंश का वर्णन किया। भगवती देवहूति का चरित्र तो सुना ही दिया। सबसे छोटी प्रसूति का विवाह दक्ष प्रजापति के साथ हुआ। उससे बहुत-सी सन्तानें हुईं। उनका वर्णन आगे हम विस्तार के साथ करेंगे।"

यह सुनकर विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! आपने महर्षि कर्दम की नौ कन्याओं का पीछे उल्लेख किया था और यह भी बताया था, कि उनका विवाह मरीचि आदि नौ महर्षियों के साथ हुआ। उनकी सन्तानों का चरित्र सुनने की मेरी इच्छा है। उनमें

जो विशिष्ट-भक्त हुए हों—भगवान् के अवतार हुए हों—उनका आप विस्तार के साथ वर्णन करें।"

इस पर मैत्रेय मुनि ने कहा—"महाभाग! मैंने आपको बताया था, भगवान् कर्दम की सबसे बड़ी पुत्री 'कला' का विवाह महर्षि-मरीचि के साथ हुआ। इन मरीचि के ही पुत्र भगवान्-कश्यप हुए जिनकी दिति आदि पत्नियाँ हुईं और जिनसे इतनी संतानें हुईं कि सम्पूर्ण संसार उन्हीं की संतानों से भर गया। दूसरे पुत्र पूर्णिमा हुए जिनके विरज, विश्वज, दो पुत्र हुए और देवकुल्या नाम की एक पुत्री हुई, जो गङ्गा हो गई। भगवान् मरीचि के वंश का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

महर्षि कर्दमजी की दूसरी पुत्री का नाम अनसूया था जिसका विवाह भगवान् अत्रि के साथ हुआ। ये अनसूया पति-व्रताओं में शिरोमणि हुईं। इन्होंने अपने पतिव्रत के प्रभाव से तीनों देवों को पुत्र बना लिया। इनके पातिव्रत से संन्तुष्ट होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश ने इन्हें वरदान किया कि हम तुम्हारे यहाँ पुत्र रूप में प्रकट होंगे। वे तीनों ही अपने-अपन अंश से उत्पन्न होकर ससार में क्रमशः दुर्वासा, दत्तात्रेय और चन्द्रमा इन नामों से प्रसिद्ध हुए। माता अनसूया ने तो वर प्राप्त किया ही था, उनके पति भगवान् अत्रि ने भी अपने तप से तीनों देवों को सन्तुष्ट किया और पुत्र होने का वरदान माँगा। इस प्रकार इन तपः-पूत-दम्पति की भक्ति से तीनों देव इनके यहाँ अवतीर्ण हुए।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवती अनसूया ने किस प्रकार तीनों देवों से पुत्र बनने का वरदान प्राप्त किया? तथा भगवान् अत्रि ने कैसी तपस्या की, कैसे उन्हें पुत्र बनाया। इन सब कथाओं को विस्तार के साथ हमें सुनाइये।"

इस पर सूतजी ने कहा—"मुनियो! भागवती कथा में तो

इनका संकेत मात्र ही मैं पुराणों के आधार पर करूँगा। भगवती अनसूया ने कैसे तीनों देवों को अपने पातिव्रत के प्रभाव से वश में किया इस कथा को सुनाऊँगा - आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

पति प्राना जग माहिं सरिस अनसूया नारी।
को है वश जिन किये अखिलपति, विधि, त्रिपुरारी॥
पुरुष जोग जप करैं सिद्धि वाकूँ नहिं पावें।
जाहि पाइ पति प्रिया सहज जगतें तरि जावें॥
जाके डरते देव, मुनि, इन्द्र, चन्द्र, रवि सब डरहिं।
पतिव्रता तिहि के चरन, बार-बार बन्दन करहिं॥

अनसूया के यहाँ तीनों देवों का पुत्र होना

(१६८)

षष्ठे अत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया ।
आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् ॥*
(श्री भा० १ स्क० ३ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

सरस्वती, श्रीरमा, शिवा तीनों यह मानें ।
पतिव्रता हम श्रेष्ठ याहि सबरो जग जानें ॥
नारद सबके भरे कान अनसूया को सम ?
निज-निज पति तें कहें पातिव्रत देखे बल हम ॥
विधि, हरि, हर भिक्षुक बने, अनसूया आश्रम गये ।
पतिव्रता की परीक्षा, हित भिक्षा माँगत भये ॥

भगवान् को अपने भक्तों का यश बढ़ाना होता है तो वे नाना-भाँति के स्वाँग रचते हैं । ऐसी-ऐसी अद्भुत क्रीड़ायें करते हैं जिनको स्मरण करके साधारण मनुष्य चकित हो जाते हैं, कि भगवान् ने ऐसी क्रीड़ा क्यों की ? हम साधारण अज्ञपुरुष, भगवान् की अचिन्त्य-लीलाओं को अपने तर्क की तुला पर तोलें तो हमारा यह प्रयास असफल ही न होगा अपितु यह हमारी अनधिकार चेष्टा भी समझी जायगी ।

---

* छठें, दत्तात्रेय नामक अवतार-अत्रि भगवान् की पत्नी अनसूया के वरदान माँगने पर उनके यहाँ पुत्र रूप से प्रकट हुए, जिन्होंने प्रह्लादजी तथा महाराज अलर्क को ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया ।

संसार में दो ही सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं—"सती और सन्त! ये दोनों ही दिव्य-धाम के अधिकारी समझे जाते हैं। जो पद भगवद् भक्त सन्त का है, वही नहीं किन्तु उससे भी ऊँचा पद पतिप्राणा सती-पत्नी का समझा जाता है। सन्त से तो भगवान् चिरकाल के अनन्तर बातें करते है. बातें भी करतें हैं तो अत्यन्त स्नेह के साथ-प्रेमपूर्ण वाणी से। किन्तु सती को तो प्रतिक्षण अपने पति के रुख को देखकर चलना पड़ता है, उसकी डाँट-फटकार सहनी पड़ती है, उसके मन में अपना मन मिलाना पड़ता है और उसके प्राणों में प्राण मिलाकर उसी की इच्छानुसार आचरण करना पड़ता है। पति ही परमेश्वर है-यह कितना उच्च भाव है, कितनी कठिन साधना है। इस साधना को इस पुण्य-भूमि की ललनायें ही करती हैं। तभी तो सतियों की आज्ञा के सामने देवताओं को सिर झुकाना पड़ता है। सूर्य-चन्द्र उनका रुख देखकर चलते हैं। देवताओं की तो बात ही क्या है, ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उनके सामने अपने को पराजित-सा समझते हैं। पतिव्रता के ऐसे प्रभाव को जताने के ही लिये भगवान ने एक विचित्र अभिनय रचा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्रीलक्ष्मीजी, श्रीसतीजी और श्रीसावित्रीजी को अपने पतिव्रत का बड़ा अभिमान था। भगवान् और किसी के अभिमान को चाहे सहन कर लें किन्तु वे अपने भक्तों के हृदय में उठे हुए अभिमान के अंकुर का तुरन्त नाश कर देते हैं। यही तो उनकी भक्तों के ऊपर भक्तवत्सलता है। भगवान् ने देखा कि चराचर-जगत की इन वन्दनीय देवियों को बड़ा गर्व हो गया है, तो उनके गर्व को खर्व करने के निमित्त कलह प्रिय-भगवान् नारद के मन में प्रेरणा की। नारदजी तो भगवान् की इच्छा को जानने वाले ही ठहरे। भगवान् की प्रेरणा से चले। उन्हें तो नित्य प्रति कोई न कोई नया कौतुक चाहिए।

बैठे-बिठाये उनका मन लगता नहीं। इधर की उधर और उधर की इधर लगाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता है। अतः वे पहिले लक्ष्मीजी के यहाँ पहुँचे।"

अपने यहाँ, वीणा बजाते—"रामकृष्ण गुण गाते, नारदजी को आते देखकर लक्ष्मीजी का मुख कमल खिल उठा। बड़ी प्रसन्नता से वे बोलीं—"आइये नारदजी! अबके तो बहुत दिनों में आये, कहाँ चक्कर लगाते रहे?"

कुछ रुक कर नारदजी बोले—"माताजी! हमारा क्या ठिकाना!! रमते-राम ठहरे, जिधर चल दिये-चल दिये। वैष्णव का और ऊँट का जिधर मुँह उठा चल दिया।"

यह सुनकर लक्ष्मीजी बड़े जोरों से हँस पड़ीं और हँसते-हँसते बोलीं—"नारदजी! आपने वैष्णव की ऊँट के साथ तुलना बड़ी सुन्दर की। ऊँट भी नीम को बिना पत्ती के बना देता है और ये वैष्णव भी तुलसी को बिना पत्ती के बना देते हैं। सहस्र-सहस्र दल शालिग्राम भगवान् पर चढ़ाते हैं। अस्तु, यह तो बताओ, तुम आ कहाँ से रहे हो?"

नारदजी बोले—"माताजी क्या बताऊँ, कुछ बताते नहीं बनता। अबके मैं घूमता-घामता चित्रकूट की ओर चला गया। वहाँ से पयस्विनी के किनारे-किनारे भगवान् अत्रि के आश्रम पर पहुँच गया। जहाँ उनकी पतिव्रता-पत्नी भगवती-अनसूया के दर्शन करके मैं कृतार्थ हो गया। आज संसार में उनके समान पतिव्रता कोई भी नहीं है। उन्होंने अपने तप के ही प्रभाव से गंगाजी की एक धारा प्रकट कर दी जो सब पापों को काटने वाली 'मन्दाकिनी' के नाम से संसार में प्रसिद्ध है। आज संसार की सभी सती-साध्वी-पतिव्रताओं की वे शिरोमणि हैं। चौदहों भुवनों में मैं घूम आया, ऐसी पतिव्रता तो मुझे कहीं मिली नहीं।"

यह सुनकर तो लक्ष्मीजी को बड़ा बुरा लगा। यह मेरे ही घर का बच्चा, मेरे सामने ऐसी बातें कर रहा है, यह तो मेरा प्रत्यक्ष अपमान है, फिर सोचा—"इसने मुझे छोड़कर कहा होगा। अतः बात को स्पष्ट करने को पूछने लगीं—"नारद! तुमने अनसूया के पातिव्रत की बड़ी प्रशंसा की, नाम तो उनका मैंने भी सुना है, किन्तु क्या वे मुझसे भी बढ़कर हैं ?"

नारदजी को तो उनके मन को फेरना ही था, बोले—"माताजी! आप बुरा न मानें तो मैं इसका उत्तर दूँ ?"

लक्ष्मीजी बोलीं—"बुरा मानने की कौन-सी बात है, तुम निर्भय होकर उत्तर दो।"

नारदजी बोले—"माताजी! सच कहूँ या झूठ ?"

लक्ष्मीजी बोलीं—"अरे, झूठ का क्या काम ? तुम सच-सच बताओ।"

तब नारदजी दृढ़ता के स्वर में कहने लगे—"माताजी! सच बात तो यह है, आप उन देवी अनसूया के पासंग के बराबर भी नहीं।" इतना सुनते ही लक्ष्मीजी का मुख फक पड़ गया। वे नारदजी से ऐसे उत्तर की स्वप्न में भी आशा नहीं रखती थीं। उनके मन में सती अनसूया के प्रति डाह हुआ और मन-ही-मन उन्होंने भगवती-अनसूया को नीचा दिखाने का निश्चय कर लिया। फिर प्रकट में बोलीं—"अच्छी बात है, नारद। समय बतावेगा कि वह मेरे पासंग के समान है या मैं उसके पासंग के तुल्य हूँ।" नारदजी को तो कलह का बीज बोना था। उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। ठीक समय पर जोती गई उर्वरा भूमि में बीज बोया गया है, अब अतिशीघ्र ही बीज में से अंकुर उत्पन्न होकर वह पल्लवित और फलवान् बन जायगा। यह विचार कर नारद शीघ्रता के साथ कैलास की ओर चल दिये।

इधर लक्ष्मीजी आज मुँह फुलाकर बैठ गईं। भगवान् ने

पूछा—"प्रिये ! आज किस कारण से खटपाटी लेकर पड़ी हो ? अपने दुःख का कारण मुझे बताओ।"

लक्ष्मीजी बोलीं—"देखो जी, सुन लो मेरी बात ! बहुत दिन मैंने आपके तलुए सुहराये हैं। आपने भी कृपा करके मुझे अपने कंठ का हार बनाया। मैंने आज तक आपकी हाँ-में-हाँ मिलाई है। अपनी कोई माँग उपस्थित नहीं की। आज आपको मेरी एक बात माननी पड़ेगी ?"

भगवान् बोले—"बात भी तो सुनें, क्या बात है ? बिना सुनें कैसे कह दें ?"

मुँह फुलाकर लक्ष्मीजी बोलीं—"नहीं जी, बात कुछ भी हो। मैं शशक के सींग माँगू तो आपको एक सींग वाला शशक बनाकर उसके सींग लगाने पड़ेंगे। मैं वन्ध्या का पुत्र माँगू तो आपको वन्ध्या के मुँह से पुत्र प्रकट करके लाना ही पड़ेगा। तुम, हाँ कहोगे तब मैं कहूँगी। उसके पहिले नहीं। आज ही तो आपका प्रेम देखना है। बहुत मुझे बहकाते रहते थे।"

भगवान् बोले—"अच्छी बात है, कहो तो सही।"

लक्ष्मीजी बोलीं—"हाँ-कहो।"

भगवान् हँसकर बोले—"हाँ, हाँ, कहो और कहो के बार कहूँ ? पट्टा लिख दूँ। गंगाजी तो मेरे अँगूठे से ही निकली हैं, जो गङ्गाजी में खड़ा होकर कहूँ।"

लक्ष्मीजी प्रसन्नता प्रकट करती हुई बोलीं—"नहीं-बस महाराज ! हो गया मुझे विश्वास। आपको जैसे भी हो तैसे अनसूया देवी का सतीत्व क्षीण करना होगा।"

भगवान् यह सुनकर हँसे और मन में ही कहने लगे—"अरे, देवि ! हममें इतनी सामर्थ्य कहाँ जो उस देवि का पातिव्रत कम कर सकें। भगवान् तुरन्त समझ गये यह सब उसी

तूमड़ियाँ नारद ने बीज बोये हैं। प्रकट में बोले—"बस, इतनी सी ही बात पर मुँह कुप्पी की तरह फुला लिया था। हम अभी जाते हैं, हम तो प्रयत्न करेंगे और जब तक इस कार्य को पूरा नहीं करेंगे तब तक न लौटेंगे, यदि तुमने बीच में कुछ विघ्न बाधा न डाली तो।"

लक्ष्मीजी बड़ी प्रसन्न हुईं। भगवान् ने अपने वाहन गरुड़ को बुलाया और वे अत्रि के आश्रम की ओर चल पड़े।

इधर नारदजी कैलास पहुँचे। सतीजी अकेली बैठी पूजा कर रही थीं। वीणा बजाते, नाचते, गाते हुए आते नारदजी को देखकर सती-पार्वती ने उनका स्वागत किया, खाने को एक लड्डू दिया। एक ही गप्पे में मुँह में डालते हुए नारदजी बोले—"अहा! कैसा स्वादिष्ट लड्डू है। अमृत का बना मालूम पड़ता है, किन्तु भगवती-अनसूया के यहाँ जैसा स्वाद था, वैसा तो स्वाद है नहीं।"

श्रीसतीजी ने मन में सोचा—"हाय! कैसे कृतघ्न से पाला पड़ा! कितने उल्लास से तो मैंने यह सुधामय-मोदक इसे दिया, यह कहता है अनसूया के लड्डू के बराबर नहीं है। तब तो उन्हें रोप आ गया और बोलीं—"नारद! क्या कह रहा है? अनसूया कौन है—जिनके लड्डू की तू इतनी प्रशंसा करता है?"

नारदजी बोले—"माताजी! सती-साध्वी भगवती-अनसूया भगवान् अत्रि की प्राणप्रिय-पत्नी हैं। आज संसार में उनके सदृश दूसरी कोई पतिव्रता नहीं।"

सतीजी ने बल देते हुए कहा—"मुझसे भी अधिक?"

नारदजी ने उपेक्षा के स्वर में कहा—"माताजी! अधिक कम का तो मुझे पता नहीं। किन्तु इतना अवश्य जानता हूँ कि उनके पातिव्रत के सामने आपका पातिव्रत फीका है।"

यह सुनते ही सती दौड़ी-दौड़ी शिवजी के पास पहुँचीं और बोलीं—"आप तो कहते थे, मैं पतिव्रताओं में शिरोमणि हूँ।"

शिवजी ने कहा—"क्यों, तुम्हें इसमें कुछ सन्देह है क्या ?"

सतीजी ने कहा—"महाराज जी ! अब तक तो सन्देह था नहीं, इस नारद ने मुझे अब सन्देह में डाल दिया है। नारद कहता है, कि अत्रि-पत्नी अनसूया के सामने तुम्हारा पातिव्रत फीका है।"

यह सुनते ही शिवजी हँस पड़े और बोले—"नारद कहाँ है ? उसे मेरे पास लिवा लाओ।" सतीजी लौटकर गईं, तो अब नारद वहाँ कहाँ ? वे तो कब के नौ-दो-ग्यारह हो चुके थे। पार्वतीजी ने लौटकर कहा—"महाराज ! वह तो चला गया। किन्तु आप बतावें, यह बात सत्य है क्या ?"

भोलानाथ, स्त्रियों के डाह की बात क्या जानें कि इनके मन में कैसी 'असूया' होती है। वे बोले—"नारद ठीक ही कहता था देवि ! तुम भगवती-अनसूया की समानता नहीं कर सकतीं।"

सतीजी ने उसी समय शिवजी के कमल के सदृश दोनों अरुण-चरण पकड़ लिये और दृढ़ता के स्वर में बोलीं—"अब इन चरणों को तभी छोड़ूँगी, जब अनसूया का पातिव्रत क्षीण करके मुझे संसार में सर्वश्रेष्ठ सती-शिरोमणि बना दोगे।"

भोले बाबा अपने साँपों को सम्हालते हुए बोले—"देवि ! हम प्रयत्न करेंगे, किन्तु बीच में फिर तुम गड़बड़ घुटाला मत मचा देना। ये स्त्रियाँ क्षण भर में तो रुष्ट हो जाती हैं, क्षण भर में संतुष्ट। फिर 'भायेलो-सहेलो' मत जोड़ लेना।"

सतीजी बोलीं—"महाराज ! मुझे तो आपका ही डर है। आप भोलानाथ ठहरे। पुरुषों की सदा यही नीति रहती है, कि छल से, बल से, कला-कौशल से, डाँट के, फटकार के, प्यार करके, झूठ-सच बोल कर स्त्रियों को ठग लेना। सो, देवराजी !

मुझे तो आज तक ठगा है। अब उस ठग-विद्या का प्रयोग अत्रि पत्नी अनसूया के साथ करो न।"

शिवजी हँस पड़े और मन-ही-मन सोचने लगे—"जो दूसरों को खाई खोदता है, उसके लिये कुँआ खुदा खुदाया तैयार रहता है।" प्रकट में बोले—"देवि! अभी जाता हूँ, तुम मेरे चरणों को छोड़ो तो सही!" सती देवी ने भगवान् वृषभध्वज के चरणों को छोड़ दिया। जो सती अपने पति के चरणों को क्षण भर भी छोड़ देती है, उसे अन्त में क्लेश-ही-क्लेश उठाना पड़ता है। शिवजी ने अपने 'नादिये' को बुलाया। वे बम-बम करते हुए तुरन्त दौड़े चले आये। शिवजी उछलकर उसके ऊपर सवार हुए और पीछे आने वाले भूत, प्रेत, पिशाचों को लौटा कर अकेले ही अत्रि आश्रम की ओर चल पड़े।

इधर नारदजी ब्रह्मलोक में पहुँचे। सावित्री माता ने उनका प्रेमपूर्वक सत्कार किया और बोलीं—"वत्स नारद! तुम तो हमें भूल ही जाते हो, अबके तो बहुत दिनों मे आये। क्या नये समाचार हैं?"

नारदजी ने कहा—"माताजी! सब ठीक है, एक बड़ी अद्-भुत बात मैंने मर्त्यलोक में देखी।"

उत्सुकता के साथ ब्रह्माणी ने पूछा—"बताओ, कौन-सी अद्भुत बात है?"

नारदजी ने कहा—"माताजी! क्या बताऊँ, अत्रिपत्नी अनसूया के पातिव्रत का ऐसा प्रभाव है, कि सब ऋषि मुनि आकर उनकी स्तुति करते हैं। संसार में उनके समान आज कोई पतिव्रता नहीं। मैं उनके आश्रम में गया, तो वहाँ ऐसी शान्ति थी जैसी यहाँ ब्रह्मलोक में नहीं। पतिव्रता का ऐसा प्रभाव ही होता है।"

अमर्ष के कारण ब्रह्माणी बोलीं—"तो क्या वह मुझसे भी कर है ?"

नारदजी ने कहा—"अब माताजी ! मैं कैसे कहूँ ? अपनी माँ तो माँ ही है,सर्वश्रेष्ठ है ही । किन्तु सभी ऋषि-मुनि यही बात कह रहे हैं, कि आज अनसूया से बढ़कर कोई भी पतिव्रता नहीं।"

अब तो ब्रह्माणीजी को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने कहा— "जा, शीघ्रता से अपने पिता को बुला ला।"

अपनी माताजी की आज्ञा पाकर नारदजी पितामह की सभा में गये। उस समय वे देवताओं और असुरों में जो बहुत दिन से वैरभाव चल रहा था, उसी के सम्बन्ध में कश्यपजी से बातें कर रहे थे। भगवान्-वेदगर्भ की स्तुति-वन्दना के अनन्तर नारदजी ने ब्रह्माणी का सन्देश कह सुनाया।

ब्रह्माजी ने समझा कोई आवश्यक कार्य होगा, इसलिये उठकर भीतर आये। आते ही ब्रह्माणी ने पूछा—"भगवन् ! आजकल संसार में सर्वश्रेष्ठ पतिव्रता कौन है ?"

ब्रह्माजी ने विस्मय के साथ पूछा—"इस अप्रासंगिक-प्रश्न का प्रयोजन क्या ?"

हठ के स्वर में ब्रह्माणी ने कहा—"प्रयोजन कुछ नहीं, आप मुझे पहिले इसका उत्तर दे दीजिये।"

ब्रह्माणीजी ने प्रेम के स्वर में कहा—"अब महाराज ! आप ये चाटुकारिता की बात न कीजिये, सत्य-सत्य बताइये। मैंने तो सुना है, आजकल अनसूया से बढ़कर कोई पतिव्रता संसार भर में नहीं है।"

यह सुनकर ब्रह्माजी को चिन्ता भी हुई, ऊपर से मुस्कराये भी। सोचा—"कुछ दाल में काला है" स्त्रियों में 'असूया' ही आ जाती है। अनसूया में यही विशेषता है, कि किसी के

भी उनके मन में असूया नहीं, डाह नहीं, ईर्ष्या नहीं। बात तो सत्य है, उनके समान कौन हो सकता है ? बात को टालने की दृष्टि से ब्रह्माजी बोले—"तुमसे यह बात किसने कही ?"

ब्रह्माणीजी इधर-उधर देखने लगीं। नारदजी का पता ही नहीं। माता-पिता की ऐकान्तिक रहस्य की बातों के समय सयाने पुत्र को वहाँ नहीं रहना चाहिये। इसलिये नारदजी न जाने कब के अन्तर्धान हो गये थे। जब नारदजी को न देखा तो ब्रह्माणीजी ने कहा—"मुझसे काले चोर ने कहा। आप यह बताइये, बात सत्य है कि नहीं !"

ब्रह्माजी ने अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा—"मान लो सत्य ही है, तो इसमें तुम्हें चिन्ता करने की कौन-सी बात है ? वह तो तुम्हारी पुत्रवधू ही ठहरी।"

ब्रह्माणीजी ने जरा रोष के स्वर में कहा—"मानसिक-पुत्रों से क्या सम्बन्ध ? वे तो पृथक्-पृथक् अङ्गों से प्रगट होने से परस्पर में भिन्न ही हैं। देखिये, आप जैसे हो तैसे अनसूया को पातिव्रत-धर्म से च्युत करें।"

उसी समय सर्वज्ञ-भगवान् ब्रह्माजी ने ध्यान लगाया। सब बात वे समाधि में ही समझ गये, भगवान् कुछ कौतुक करना चाहते हैं, वे शीघ्रता से मुकुट सम्हालते हुए बोले—"अच्छी बात है, मैं जाता हूँ।" यह कहकर वे हंस पर चढ़कर अकेले ही चल दिये।

तीनों ही देव, भगवती-मन्दाकिनी तट पर महामुनि अत्रि के आश्रम में पहुँचे। परस्पर में एक दूसरे से प्रणाम-नमस्कार हुआ, सभी ने अपने-अपने आने का कारण बताया। भगवान् तो सब समझते थे, अतः वे बोले—"हम तीनों वेष बदल कर भगवती अनसूया के पातिव्रत की परीक्षा करने चलें।" सभी ने इस बात को स्वीकार किया और तीनों, साधु वेश में अनसूया देवी के

निकट पहुँचे। उस समय भगवान् अत्रि आश्रम में नहीं थे। तीन अतिथि-स्वरूप मुनियों को आते देखकर पतिव्रता अनसूया ने उनका स्वागत-सत्कार किया। पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय देकर उसने कन्द मूल, फल मुनियों को भेंट किया, परन्तु मुनियों ने देवी के आतिथ्य को स्वीकार नहीं किया।

तब देवी ने विनीत भाव से पूछा—"मुनियो! मुझसे कौन-सा अपराध हो गया जो आप लोग मेरी की हुई पूजा को ग्रहण नहीं कर रहे हैं ?"

मुनियों ने कहा—"आप हमें एक वचन दें, तो हम आपकी पूजा को ग्रहण करेंगे अन्यथा नहीं ग्रहण कर सकते।"

देवी ने कहा—"मुनियो! अतिथि का सत्कार प्राणों को बलिदान करके भी किया जाता है। कपोत ने अपनी स्त्री को मारने वाले व्याधा का सत्कार स्वयं अग्नि में कूदकर–प्राण देकर–भी किया था। आप जिस प्रकार भी प्रसन्न होंगे उसी प्रकार मैं करने को उद्यत हूँ।"

तब तो मुनियों ने कहा—"देवी! तुम विवस्त्र होकर हमारा आतिथ्य-सत्कार करो।"

यह सुनकर तो पतिव्रता अनसूया हक्की-बक्की-सी रह गई। ये मुनि हैं या कोई छद्मवेषधारी कपटी, जो ऐसा अनुचित सदाचारहीन-प्रस्ताव कर रहे हैं। ध्यान लगाकर समाधि में देखा तो सब रहस्य समझ गईं और बोलीं—"मैं आपका विवस्त्र होकर ही सत्कार करूँगी! यदि मैं सच्ची पतिव्रता हूँ—मैंने कभी भूल से भी, स्वप्न में भी पर-पुरुष का कामभाव से चिन्तन न किया हो तो तुम तीनों छः-छः महीने के बच्चे बन जाओ।"

पतिव्रता का इतना कहना ही था, कि तीनों के तीनों छः-छः महीने के दूध पीनेवाले बच्चे बनकर पालने पर झुलझुलाने लगे! माता ने विवस्त्र होकर अपना स्तन-पान कराया और पश्चात्

पालने पर सुला दिया। इतने में ही महामुनि अत्रि भी आ गये। तीनों सुकुमार बच्चों को देखकर वे आश्चर्यचकित होकर पूछने लगे—"देवी ! ये देव-स्वरूप, परमसुन्दर अत्यन्त मनोहर, मन को स्वतः ही अपनी ओर खींच लेने वाले बच्चे किस भाग्यशाली के हैं ?"

भगवती अनसूया ने कहा—"भगवन् ! ये आप ही के बच्चे हैं।"

ऋषि बोले—"भला हमारे ऐसे भाग्य कहाँ ?"

देवी ने कहा—"नहीं महाराज ! आपके ही हैं, भगवान् ने स्वतः कृपा की है।" मुनि सब रहस्य समझ गये। अब तो तीनों देवता बच्चे बने क्रीड़ा करने लगे। माँ—अनसूया उन्हें खिलाती-पिलाती, पुचकारती, प्यार करती। वे सब भी उमंग में भरकर माँ के साथ क्रीड़ायें करते।"

इधर जब तीनों देवियों ने देखा कि, हमारे पतिदेव तो आये ही नहीं, तब तो वे बड़ी ही चिन्तित हुईं। जिससे पूछें, वह कह देता माताजी ! हम तो जानते नहीं ! क्या करें-कहाँ रह गये-वह तीनों ही अपने-अपने घर से निकलीं, दैवयोग से तीनों की चित्रकूट में भेंट हो गई। परस्पर में मिलकर एक ने दूसरी से अपना दुःख बताया। लक्ष्मीजी ने सतीजी से पूछा—"तुम्हें कैसे पता चला ?"

उन्होंने कहा—"हमसे तो नारद ने ये सब बातें कही थीं ?"

शीघ्रता से ब्रह्माणीजी बोल उठीं—"हाय ! उसी ने मेरे भी कान भरे।"

लक्ष्मीजी भी सिर ठोकने लगीं। तीनों, नारदजी पर क्रोध कर रही थीं। लक्ष्मीजी बड़ी कुपित हो रही थीं। दाँत पीसकर बोलीं—"यदि वह तुमड़िया कहीं मिल जाय, तो उसकी तूमड़ी-फूमड़ी फोड़ दूँ। उसकी ऐसी मरम्मत करूँ, कि छठी तक का

दूध याद आ जाय। वे यह कह रही थीं कि सामने से "जय-जय रामकृष्ण हरि" की धुनि करते हुए नारदजी दिखाई दिये।

दूर ही से नारदजी ने कहा—"माताजी डण्डौत! सब माताओं को दण्डवत्।"

लक्ष्मीजी तो मन ही मन क्रोधित थीं, सभी का रोष पराकाष्ठा को पहुँच रहा था, अपने रोष को छिपाकर लक्ष्मीजी बोलीं—"वाह, नारदजी! बड़े अच्छे समय पर आये। दूर क्यों खड़े हो, हमारे पास आओ। तुम्हारी यह वीणा तो बड़ी सुन्दर है। देखें—तनिक इसे, कैसी है? सरस्वतीजी बड़ी सुन्दर वीणा बजाती हैं।"

नारदजी सब समझ रहे थे, बोले—"माताजी! मैं आजकल एक अनुष्ठान में हूँ। किसी के पास जाकर बातें नहीं करता। विशेषकर स्त्रियों से दूर ही रहता हूँ। किसी के पैर भी नहीं छूता। रही वीणा की बात सो यह तो मुझे प्राणों से भी प्यारी है, इसे तो मैं किसी को छूने तक नहीं देता। सरस्वतीजी अपनी वीणा बजावें, अपने राम तो चले, जय जय—सीताराम!" इतना कहा और नारदजी चल पड़े।

अब तो तीनों घबड़ाईं। बड़ी कोमल वाणी में ब्रह्माणी बोलीं—"नारद! नारद! तुझे मेरी शपथ, अपने बाप की शपथ जो तू लौटकर न आवे। भैया! एक बात सुन जा। तू सब जानता है। तीनों देवता कहाँ चले गये?"

नारदजी ने अँगुली से संकेत करते हुए कहा—"देखो, वह भगवती अनसूया का आश्रम है—उसी में खेल रहे हैं।"

लक्ष्मीजी शीघ्रता से बोलीं—"ऐसा भी क्या खेल! इतने दिन हो गये, तू हमारे पास तो आ। अब तेरी वीणा-श्रीड़ा नहीं फोड़ूँगी, बात तो बता—हम किस तरह अपने-अपने पतियों से मिल सकती हैं?"

नारदजी बोले—"मैं इन बातों को क्या जानूँ ? मैं तो माताओं से मिलना जानता हूँ।"

पार्वतीजी बोलीं—"अरे भैया नारद ! तेरे पेट में दाढ़ी है, तू सब जानता है। हम इस आश्रम के भीतर जाना चाहती हैं, कैसे जायँ ? भगवती अनसूया अप्रसन्न तो न होंगी ? हमें उनका बड़ा डर है।"

नारदजी ने कहा—"तुम भूलकर भी पैर मत रखना। जहाँ तुम सब भीतर गईं, कि देवी ने अपने सतीत्व के बल से तुम सबको भस्म किया।"

तीनों बड़ी घबड़ाईं और बोलीं—"नारद भैया ! देख, अब हँसी मत कर। सब बात बता दे, कहाँ हैं वे तीनों ?"

नारदजी हँसी रोक कर बोले—"वे तीनों तो म्याऊँ-म्याऊँ कर रहे हैं। तीनों की बोलती बन्द है। 'बोबो' पीते हैं और किलकिलाते हैं, बिल्लो के से बच्चे बने हुये हैं। सती जहाँ बिठाती हैं—बैठते हैं, जहाँ लिटाती हैं—लेटते हैं ! अब उनका आशा छोड़ो। पन्द्रह बीस वर्ष में बड़े होंगे, तब माता उनका दूसरा विवाह करेंगी। अब तुम सब भस्म रमाकर, माला ले, राम-राम रटो। दूसरा कोई उपाय नहीं। अब समझ गईं अनसूया के समान संसार में दूसरी कोई सती नहीं ?"

लक्ष्मीजी बोलीं—"यह सब विप की बेल तेरी ही बोई हुई है। अब भैया, तू जीता हम सब हारीं। जैसे भी हम उनसे मिल सकें वह उपाय बतादे। हमने अपने किये का फल पा लिया। सत्य है, कभी किसी गुणवान के प्रति 'असूया' नहीं करनी चाहिये। सबसे बड़ा-पाप दूसरों से ईर्ष्या-डाह करना ही है।"

नारदजी बोले—"अब आईं ठीक-ठिकाने पर। पश्चात्ताप से सभी पाप धुल जाते हैं। अब तो एक ही उपाय है। तुम सती की शरण में जाओ, तभी कल्याण होगा।"

तीनों आश्रम के समीप गईं। किवाड़ें बन्द थीं, किसी का साहस नहीं हुआ कि किवाड़ खोलकर भीतर घुस जायँ। न जाने, सती असन्तुष्ट हो जायँ। देवो सम्भव है स्नान करने मन्दाकिनी गई हों! कुटी के पीछे एक विशाल-वटवृक्ष था, उसी पर चढ़ कर देखतीं हैं तो तीनों, बच्चे बने एक पालने में किलक रहे हैं। विष्णुभगवान ने कनखियों से लक्ष्मीजी को देखा और चिल्ला उठे– म्याऊँ म्याऊँ! लक्ष्मी जी ने हाथ का संकेत करते हुए कहा –"क्यों ढोंग बनाये हुए हो, आजाओ।" वहीं से हाथ हिलाने लगीं। तीनों ने तीनों ही को देखा, किन्तु, भगवान् तो सती के तप के वश में थे! अतः वे तो बिना पूछे जा नहीं सकते। तीनों देवियाँ, अनसूया के शाप से भयभीत थीं– अतः उनका साहस नहीं हुआ, कि बिना पूछे नीचे उतर जायँ। थोड़ी देर में भगवती-अनसूया गीले-वल्कल पहिने आ गईं। तीनों शीघ्रता से पेड़ से उतरकर कुटी के द्वार पर खड़ी हो गईं और वहीं से पुकारने लगीं—"माताजी! माताजी, हम भीतर आवें?"

माताजी ने भीतर से ही पूछा—"तुम कौन हो?" तीनों ने कहा—"हम आपकी पुत्रवधुएँ हैं।"

माता ने कहा—"अरी, बहुओं को अपने घर में क्या पूछना? आजाओ, यह तो तुम्हारा ही घर है।"यह सुनकर तीनों लजाती हुई भीतर गईं! माता-अनसूया के पैर छूये। माता ने कहा— "बड़ी अवस्था वाली हो, अपने पति की प्यारी हो! मेरे बच्चे तो अभी छोटे-छोटे हैं—बहुएँ तो बड़ी लम्ब-तड़गी हैं।"

इतने में ही महामुनि-अत्रिजी भी आगये। तीनों बहुएँ घूँघट निकाल कर एक ओर हट गईं! मुनि ने पूछा—"देवी! ये सातों कौन हैं?"

अनसूयाजी ने कहा—"भगवान्! ये आपकी पुत्रवधू हैं।"

मुनि बोले—"देवी! तुम बड़े-कौतुक रच लेती हो। अभी

तो पुत्र बना लिये। वे पूरे छः महीने के भी नहीं हुए कि पुत्र-बधुएँ भी आ गईं! हाथ-हाथ भर के बच्चे, पाँच-पाँच हाथ की बहुएँ, यह कैसी विचित्र बातें हैं?"

अनसूया देवी बोलीं—"महाराज, इसमें क्या हानि? बड़ी बहू—बड़े भाग्य!! यह कहावत है, बच्चे भी एक दिन बड़े हो जायँगे।" यह सुन कर मुनि हँस पड़े और सब रहस्य समझ गये।

अब तीनों ने सती के पैर पकड़े—"देवी! हमें क्षमा करिये। अपने किये का हमने फल भोग लिया। अब हमें हमारे पतियों को दे दीजिये।"

अनसूयाजी ने कहा—"मैं कब मना करती हूँ? ले जाओ गोदी में उठाकर—ये सो रहे हैं।"

तीनों देवियों ने कहा—"माताजी! अब हमे बहुत लज्जित न करें। संसार में हमारी हँसी न करावें, कोई क्या कहेगा? इन्हें जैसा-का-तैसा कर दीजिये।"

तीनों देवियों को दुखित देखकर माता का हृदय पसीज गया। उन्होने हाथ में जल लेकर बच्चों के ऊपर छिड़क दिया तीनों, देव अपने-अपने स्वरूपों में, अपने-अपने वाहनों पर विराजमान थे! सती माध्वी—अनसूया ने उठकर तीनों देवों की वन्दना की, पूजन किया और प्रदक्षिणा की। माता की पूजा से प्रसन्न होकर तीनों देवताओं ने कहा—"पतिव्रते! हम तुम्हारे पातिव्रत से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हैं। तुम, हम से जो चाहो वरदान माँग लो।"

यह सुनकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों देवों को नमस्कार करके गद्‌गद् कंठ से भगवती-अनसूया ने कहा—"यदि आप लोग मुझ पर प्रसन्न हैं तो मैं यही वरदान माँगती हूँ,

कि आप तीनों मेरे पुत्र हो जायँ।"❀

प्रसन्न होकर तीनों देवों ने कहा—"तथाऽस्तु ! अच्छी बात है, हम तीनों अपने-अपने अंशों से आकर आपके पुत्र होंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अनसूया को इस प्रकार वरदान देकर, सम्मुख लज्जा से नीचा सिर किये हुए लक्ष्मीजी, सतीजी और ब्रह्माणीजी को देखकर तीनों ने पूछा—"बताओ, आजकल संसार में सबसे श्रेष्ठ-सती कौन है ?"

लजाते हुए तीनों ने एक स्वर में कहा - "पुण्यश्लोका, प्रातः स्मरणीय, भगवती—अनसूया देवी ही सर्वश्रेष्ठ सती हैं। इनसे बढ़कर पतिव्रता संसार में दूसरी कोई नहीं है।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आपने तो पतिव्रता का बड़ा ही अद्भुत-माहात्म्य सुनाया। पतिव्रता का प्रभाव तो सर्वश्रेष्ठ-सिद्ध हुआ, जिसके सम्मुख तीनों देवताओं ने भी आकर अपना ऐश्वर्य भुला दिया।"

इस पर सूतजी बोले—"ऋषियो ! पति को ही परमेश्वर मानकर जो देवी अपनी समस्त इच्छाओं को पति की इच्छा में ही मिला देती है, वह क्या नहीं कर सकती ? पति चाहे जैसा हो, वह उसके गुणों के कारण नहीं—अपने प्रभाव के कारण—अपनी साधना के सहारे, अपनी एकनिष्ठा के आधार पर जो चाहे सो कर सकती है। इस विषय में आपको एक अत्यन्त ही सुन्दर-आख्यान सुनाता हूँ, इससे आपको पतिव्रता का प्रभाव मालूम पड़ जायगा कि पतिव्रताओं के सम्मुख किसी की भी कुछ नहीं चलती। वे असम्भव को भी सम्भव कर सकती हैं।"

❀ अनसूया ब्रवीन्नत्वा देवान् ब्रह्मेशकेशवान्।
यूयं यदि प्रपन्ना मे वरार्हा यदि वाप्यहम्॥
प्रसादाभिमुखाः सर्वे मम पुत्रत्वमेष्यथ।

छप्पय

देवी भिक्षा देहिँ, कहैं—"हम तब लें भिक्षा।"
वस्त्रहीन है देहु यही हम सब की इच्छा॥
सती ध्यान तें जानि कही—"तीनों शिशु होवें।"
पतिव्रता प्रन सत्य भयो, बनि बालक रोवें॥
उमा, रमा, वाणी विनय, करी देव फिरतै भये।
तीनों तव सुत होहिँ हम, है प्रसन्न सब वर दये॥

पतिव्रता का प्रभाव

(१६६)

या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा ।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते ॥*

(श्रीमा० ७ स्क० ११ अ० २९ श्लोक)

छप्पय

पतिव्रता जग माहिँ अलौकिक चरित दिखावें ।
जीवित मृतपति सङ्ग सती है सुरपुर जावें ॥
पति परमेश्वर मानि अनल कूँ शीत बनावें ।
सूर्य चन्द्र गति रोकि काल बिनु प्रलय करावें ॥
प्रतिप्राणा वेश्यासदन, कोढ़ी पति इच्छा समुझि ।
जाति रही मुनि मग मिले, पति पग तिन तैं गो उरझि ॥

मन में महान शक्ति है, ब्रह्माजी मन से ही इस चराचर-विश्व की रचना करते हैं। मन के सङ्कल्प द्वारा ही श्रीविष्णु विश्व का पालन करते हैं और मन से ही समस्त सृष्टि का शंकरजी संहार करते हैं। जिसने मन को वश में कर लिया उसने जगत् को वश में कर लिया। भगवान को वश में कर

---

* जिस प्रकार लक्ष्मीजी भगवान् की सेवा करती हैं, उसी प्रकार जो स्त्री अपने पति को हरि-भावना से भजती है, वह वैकुण्ठलोक में विष्णु सायुज्य प्राप्त करके अपने पति के साथ उसी प्रकार मुदित होती है जिस प्रकार लक्ष्मी, विष्णु भगवान् के साथ मुदित होती हैं।

लिया, वह सबसे बड़ा हो गया। जो स्वयं, मन के वश में हो गया—वह तृण के भी आधीन हो गया। छोटे-से-छोटा हो गया—विषयों का दास बन गया। मन की शक्ति का पारावार नहीं। इतना शक्तिशाली मन हमारे पास रहने पर भी हम दुर्बल दुखी क्यों बने हैं? इसलिये कि हमने उसे विषयों में फँसा रखा है। बिना संयम के उसे इधर-उधर छोड़ रखा है। उसका निरोध—करके उसके गले में रस्सी बाँधकर—एक नियतस्थान पर स्थिर नहीं रखा है। जो गायें खूँटे पर बँधी है, समय पर दूध देती है—उससे दही बनता है—दही से मक्खन मट्ठा होता है—मक्खन से घृत बनता है और यज्ञ-याग होते हैं, भगवत्-प्रसाद बनता है, सबको तृप्ति होती है, बछियाँ बछड़े होते हैं, वंश बढ़ता है, समस्त सुख देती है। उसी गौ को हमने स्वतन्त्र छोड़ दिया—वह दूसरों के खेत खाती है, खेत वाले गाली देते हैं, शाप देते हैं, अपयश होता है, दूध-दही नहीं देती, दुःख-ही-दुःख है। ठीक इसी तरह संयम में रखा मन, एक लक्ष्य पर बँधा हुआ मन महान् बलवान् हो जाता है। वह जो चाहे कर सकता है। चित्त की बिखरी वृत्तियों के निरोध करने का नाम ही तो योग है। चित्त की वृत्तियाँ यथाभिमत-ध्यान से निरुद्ध होती हैं। जो प्रिय है, इष्ट हो उसी में सर्वात्मभाव से मन लगा देने का नाम योग है। कोई इस मन को भगवत्-प्रतिमा में लगाते हैं कोई मन्त्र-जप में, कोई धर्म में, कोई प्राण में, किन्तु पतिव्रता तो अपने को स्वयं, साक्षात् सजीव अपने प्राणनाथ पति में लगाकर योगियों से भी श्रेष्ठ सामर्थ्य और सिद्धियों को प्राप्त कर लेती है। वह स्वयं तो तर हो जाती है, साथ ही अपने पापी पति को भी तार लेती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपको मैं पतिव्रताओं में श्रेष्ठ शांडिली का संक्षिप्त-चरित्र सुनाता हूँ।

प्राचीनकाल में गङ्गा यमुना के मध्यप्रदेश के समृद्धशाली अहार नामक नगर में एक ब्राह्मण रहते थे। ब्राह्मण, पूर्वजन्म के किसी पाप के कारण कामी भी थे और कुष्ठी भी। उनके सम्पूर्ण शरीर में गलित कुष्ठ था, नित्य नये-नये घाव होते और उनमें से पीब बहता रहता था।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! किस पाप के कारण ब्राह्मण होकर भी उन्हें गलित कुष्ठ हो गया था ? क्यों वे, इतने पतितावस्था में भी कामी थे ?"

सूतजी ने कहा—"महानुभाव ! पूर्वजन्म में इस ब्राह्मण ने ब्रह्महत्या की थी और परनिन्दा इत्यादि जघन्य पाप किये थे। दूसरों की निन्दा करने के बराबर कोई भी पाप नहीं, इसी कारण वह कुष्ठी हुआ। किन्तु किसी पूर्वपुण्य के प्रभाव से उसे पतिव्रता-पतिप्राणा पत्नी की प्राप्ति हुई। उस पतिव्रता का नाम शैव्या था। वह अपने पति को ही परमेश्वर समझती थी। कुष्ठी होने पर भी सदा उसकी श्रद्धा सहित सेवा करती, उसके घावों को धोती-पीब को साफ करती, उसे सुन्दर से सुन्दर शैय्या पर सुलाती, अच्छे से अच्छे पदार्थ बनाकर खिलाती, सुगन्धित से सुगन्धित धूप उसके सम्मुख जलाती। सारांश वह हर प्रकार से अपने पति को सन्तुष्ट रखती।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इतने बड़े पापी को ऐसी पतिव्रता पत्नी किस पुण्य के प्रभाव से प्राप्त हुई ? पूर्वजन्म में उसने कौन-सा ऐसा सर्वोत्कृष्ट-सुकृत किया जिससे शैव्या जैसी पतिव्रता का पति होने का देवदुर्लभ-पद उसे प्राप्त हुआ ?"

सूतजी बोले—"मुनिवर ! पूर्वजन्म में उससे एक बड़ा पुण्य-कर्म बन गया था। पहिले जन्म में उसके चार कन्यायें थीं। जब तक वे रजस्वला नहीं हुई थीं उसके पूर्व ही दश वर्ष की अवस्था में, उनको वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके, अपने सजातीय

सुशील वेदज्ञ-ब्राह्मण-कुमारों को उसने श्रद्धासहित कन्यादान किया था। शौनकजी ! गृहस्थी में नित्य ही नये-नये पाप, जान में अनजान में होते रहते हैं— किन्तु इसमें सबसे बड़े दो पुण्य भी बताये हैं—"एक तो अन्नदान दूसरा कन्यादान।" गौ और भूमि का दान श्रेष्ठ बताया है, किन्तु इनसे भी बढ़कर अन्नदान का माहात्म्य है। भूखे को अन्न देने का अर्थ है—प्राणदान देना। अन्य दानों के विषय में तो बड़े-बड़े नियम हैं। यदि अपात्र को दान दिया गया तो वह निष्फल हो जाता है। कभी-कभी पुण्य के स्थान में दान से पाप भी हो जाता है, किन्तु अन्नदान में तो पात्रापात्र का विचार ही नहीं। जो भी अपने द्वार पर भूखा आ जाय और उसकी भूख को अन्न से तृप्त कर दे तो गृहस्थी के लिये इससे बड़ा कोई पुण्य नहीं। इसी अन्नदान के समान ही कन्या का दान बताया है। अपनी कन्या को योग्य वर ढूँढ़कर, श्रद्धा सहित उसे वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके, सामर्थ्यानुसार धन, वस्त्र, गौ आदि के सहित वेद की विधि से दान देना सर्वश्रेष्ठ पुण्य है। जो गृहस्थी इस प्रकार श्रद्धा सहित कन्यादान करता है उसे ही जन्मान्तर में पतिव्रता-पत्नी की प्राप्ति होती है। इस ब्राह्मण से यही पुण्य बन गया था। उसी के प्रभाव से इसे पतिव्रता-पत्नी मिली और पुराणों में सदा के लिये अजर-अमर हो गया।

हाँ, तो वह कुष्ठी ब्राह्मण जो भी इच्छा करता वही सती—शैव्या उसे लाकर देती। शैव्या के पातिव्रत की ख्याति चारों ओर फैल गयी। मुनिवर ! पुण्यकर्म छिपाने से और अधिक फैलता है और पापकर्म प्रगट करने से नष्ट होता है। पुण्यकर्म तथा पापकर्म कितने भी छिपकर किये जायँ, एक दिन वे अवश्य ही प्रगट हो जायँगे। लोग समझते हैं—"हमारे पुण्य और पापों को एकान्त में कोई देखता नहीं ! परन्तु परमात्मा सबको देखते

हैं। सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अन्तरिक्ष, दिन, रात्रि, सन्ध्या तथा धर्म—ये सभी की बातें देखते हैं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! परलोक में पुण्य-पाप होता होगा किन्तु जिस पाप या पुण्य को हम अत्यन्त ही छिपकर एकान्त में करते हैं वह कैसे प्रगट हो जाता है?"

सूतजी ने कहा—"महाभाग! आप एकान्त में करेंगे कहाँ? हमारे मस्तिष्क में जो विचार आते हैं, वे तो वायुमण्डल से ही आते हैं। हम जो सोचते हैं या करते हैं उसका प्रभाव वायु-मण्डल पर ही तो पड़ता है। शब्द नित्य हैं। हम जो बोलते हैं, वह शब्द नष्ट नहीं होता। यदि नष्ट हो जाता तो दूरश्रवण-यन्त्र द्वारा बिना किसी प्रकार सम्बन्ध से हम विदेशों की बातों को कैसे सुन लेते? एक राजा को उसके पुत्र के सहित किसी यवन राजा ने बन्दी बना लिया। बन्दी-राजा ने यवन राजा से दान-पुण्य करने की आज्ञा माँगी। उदारतावश उसने आज्ञा दे दी। बड़े-बड़े टोकरों में फल-मिठाइयाँ आने लगीं। एक दिन प्रातःकाल, राजकुमार सहित महाराज दो बड़ी-बड़ी टोकरियों में बैठकर बन्दी-गृह से बाहर निकल गये। यमुना पार घोड़े लगे थे—दोनों उन पर चढ़कर शीघ्रता से भागे जा रहे थे, दस पाँच-कोस जाकर सूर्योदय हुआ। बहुत से ग्रामीण-स्त्री पुरुष-नदी की ओर स्नान करने जा रहे थे। वे परस्पर में बातें करते जाते थे, कि राजा तो अपने कुमार के सहित यवन के कारागृह से भाग गये। कुमार को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने महाराज से पूछा—"पिताजी! अभी तो कारावास वालों को भी हमारे भागने का समाचार न मिला होगा, फिर इन स्त्री-पुरुषों को कैसे मालूम पड़ गया?"

यह सुनकर महाराज ने हँसकर कहा—"वत्स! हमने जब भागने का निश्चय किया, तभी यह भाव वायुमण्डल में व्याप्त हो

गया। जब हम भागे तब हमसे पहिले इसकी लहर वायु-मण्डल में फैल गई। यहाँ किसी धर्मात्मा-पुरुष ने उसे ग्रहण कर लिया होगा और बात फैल गई। कोई भाव या विचार छिपे नहीं रह सकते। सो मुनियो! यद्यपि उस समय न तो दैनिक-साप्ताहिक समाचार-पत्र ही थे, न घर-घर सम्वाददाता ही घूमते थे, फिर भी उस पतिव्रता का यश-सौरभ सर्वत्र व्याप्त हो गया कि वह पति को ईश्वर-बुद्धि से पूजा करती हैं।

एक दिन वह कुष्ठी अपने घर के सम्मुख बैठा था। वहाँ होकर उस नगर की सर्वश्रेष्ठ वेश्या सज-धजकर निकली। वह वहाँ की राज-वेश्या थी। अपार-सौन्दर्य, विपुलधन, अनेकों दास-दासी थे। उसकी रूपाग्नि की लौ में असंख्यों धनी-मानी, राजे-महाराजे, पतंगों की तरह आकर अपने धन, यौवन को भस्म करते। एक तो वह वैसे ही अनुपम-सौन्दर्यवती थी, तिस पर वह राजदरबार में गाने के निमित्त अमूल्य-वस्त्राभूषणों और अलङ्कारों से अलंकृत होकर जा रही थी। उस कुष्ठी का मन उसके सौन्दर्य को देखकर लुभा गया, उसके मन में काम की ऐसी पीड़ा हुई कि किसी भी प्रकार उसका चित्त शान्त नहीं होता था। अत्यन्त उदास होकर दुखित-चित्त से वह लम्बी लम्बी साँसें लेता हुआ करवट बदल रहा था। आज अपने पति की ऐसी दशा देखकर पतिव्रता को बड़ा दुख हुआ। उसने अत्यन्त ही मधुर शब्दों में कहा—"प्राणनाथ! प्रतीत होता है, आज आपको कोई अत्यन्त मार्मिक मानसिक-व्यथा है! यदि मुझसे छिपाने योग्य न हो, तो मुझे बताइये। मैं उसके प्रतिकार की भरसक चेष्टा करूँगी। आपको क्या कष्ट है? इस दासी से कोई सेवा में त्रुटि रह गई है, या जान-अनजान में कोई अपराध बन गया है?"

यह सुनकर कुष्ठी ने अत्यन्त ही दुख के साथ कहा—"देवि, तुम तो मेरी प्राणपण से सदा सेवा करती रहती हो, तुमसे

अपराध बन ही क्या सकता है ? तुम कभी मेरे कामों में प्रमाद नहीं करतीं, इससे सेवा में त्रुटि होने की भी सम्भावना नहीं। मेरा मन आज दुखी अवश्य है, किन्तु वह मेरे निज के पाप का फल है—तुम्हारा कोई दोष नहीं। मुझे शारीरिक व्यथा उतनी व्यथित नहीं करती, जितनी यह मानसिक-व्यथा मुझे व्यथित कर रही है।"

सती ने कहा—"देव! आप मुझे अपनी मानसिक-व्यथा का कारण बतावें, मैं शक्तिभर उसके निवारण की चेष्टा करूँगी।"

कुष्ठी ने कहा—"देवि, उसे कहने में मुझे लज्जा लगती है। किन्तु तुमसे न कहूँ तो सम्भव है मेरा जीवन ही न रहे। मेरा मनोरथ पूर्ण होने वाला नहीं, दुस्साध्य मनोरथ है! मेरा पापी मन उस वारांगना के रूप में फँस गया है। बहुत समझाने पर भी मन नहीं मानता। मेरे दुःख का कारण यही है।"

सती ने कहा—"प्रभो! है तो अत्यन्त कठिन कार्य किन्तु मैं इसके लिए चेष्टा करूँगी। शक्तिभर मैं आपका मनोरथ पूर्ण करूँगी-आप निश्चिन्त हो जायँ।" इतना कह कर सती उस वेश्या को प्रसन्न करने के उपाय सोचने लगी। सोचते-सोचते उसने अपना कर्तव्य स्थिर कर लिया।"

वह प्रातःकाल बहुत ही तड़के—मुँह अँधेरे में झाड़ू और गोबर लेकर उस वेश्या के घर जाती। उसके घर के सामने के खुले चौक में झाड़ू देती, गोबर से लीपती, उसमें चौक पूरती, स्वस्तिक आदि बनाती और जब तक घर के लोग सोते-सोते से नहीं उठते-तब तक लौट आती। वेश्या उठकर जब नीचे आती और घर को इस प्रकार लिपा-पुता स्वच्छ पाती, तो वह चकित हो जाती। वह सबसे पूछती—"ऐसी सुन्दर लिपाई-सफाई किसने की है ?"

तब सभी कहते—"हमें मालूम नहीं, हमने तो किया नहीं।" तब उसे और भी आश्चर्य होता। इस प्रकार तीन दिन हो गये। चौथे दिन वह वहाँ छिप कर बैठ गई। सती ने जाकर ज्यों ही झाड़ू देना आरम्भ किया, त्यों ही उसने आकर उनके पैर पकड़ लिये और रोते-रोते बोली—"माँ! आप सती साध्वी हो, देवता भी आपकी पूजा करते हैं। मैं एक लोकनिन्दिता, पतिता 'पण्यस्त्री' हूँ। आप मेरे ऊपर यह पाप क्यों चढ़ा रही हैं? आप मुझसे क्या कार्य कराना चाहती हैं देवी! आपको धन की आवश्यकता हो तो मेरे यहाँ हजारों मन सुवर्ण है, चाहे जितना ले जायँ। यदि आपको मणि-माणिक्य-मोती आदि की आवश्यकता हो, तो मेरे यहाँ असंख्यों भरे पड़े हैं आप ले जायँ। आप मुझे कोई सेवा अवश्य बतावें।"

सती ने बड़े स्नेह से कहा—"बहिन! मुझे धन-सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं। हाँ, मैं तुमसे एक काम कराना चाहती हूँ किन्तु वह बहुत कठिन है–तुम उसे करोगी नहीं।"

अत्यन्त ही स्नेह के साथ दृढ़ता के स्वर में वेश्या ने कहा—"माताजी! मैं हूँ तो पतित ही, किन्तु हृदयहीन नहीं हूँ। वेश्यावृत्ति करने पर भी मैं अपने हृदय को नष्ट नहीं कर सकी हूँ, मैं आपसे प्रतिज्ञा करती हूँ–अपने प्राणों को भी देकर यदि मैं आपका प्रिय कार्य कर सकती हूँगी, तो अवश्य ही करूँगी—अविलम्ब करूँगी! बिना विचार के करूँगी। आप इसमें तनिक भी सन्देह न समझें। मेरी बात पर विश्वास करें।"

सती ने कहा—"देवी! मुझे आपके प्राणों की आवश्यकता नहीं, किन्तु मैं आपके द्वारा अपने कुष्ठी पति का मनोरथ पूर्ण कराना चाहती हूँ। उसके सम्पूर्ण शरीर में गलित कुष्ठ है, जिसमें से निरन्तर पीब बहता रहता है।"

यह सुनकर वेश्या क्षण भर को घबड़ा-सी गई। फिर धैर्य

धर के बोली—"देवी! आप जानती हैं, शरीर सबको प्यारा होता है फिर मेरे यहाँ तो राजा, राजपुत्र तथा धनी मानी पुरुष सदा आते ही रहते हैं। हाँ, एक दिन मैं आपको दे सकती हूँ।"

सती को बड़ी प्रसन्नता हुई और वह अत्यन्त उल्लास के साथ पति के समीप जाकर बोली—"प्राणनाथ! आपका मनोरथ पूर्ण हो गया। आज आप, अपनी अभिलाषा पूर्ण कर सकते हैं।"

उदास मन से कुष्ठी ने कहा—"देवि! मेरे तो पैर गल गये हैं, वहाँ तक जा कैसे सकता हूँ?"

सती ने कहा—"इसकी आप चिन्ता न करें, अपने कंधे पर बिठा कर मैं आपको वहाँ ले जाऊँगी।"

लज्जा से सिर नीचा करके उसने कहा—"देवि! तुम धन्य हो, तुम मृत्युलोक की नहीं, बैकुण्ठलोक की ललना हो। दूसरी कोई नारी भला ऐसा कर सकती है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कामातुर-पुरुषों को लज्जा, शील, संकोच, निन्दा, अपवाद का भय तो रहता ही नहीं। रात्रि में वह कुष्ठी अपनी पत्नी के कंधे पर बैठकर वैश्या के घर की ओर चला। दैवयोग से रास्ते में माण्डव्य मुनि शूली पर चढ़े बैठे थे। अब तक तो वे समाधि में थे, उसी समय सहसा उनकी समाधि खुली। अंधेरी रात्रि थी, देवी को दिखाई दिया नहीं। उस कुष्ठी का पैर मुनि के शरीर से लग गया। शरीर पर पैर लगने से कुष्ठ की अत्यन्त भयङ्कर दुर्गन्धि आने से मुनि को क्रोध आ गया। उन्होंने तुरन्त शाप दे दिया, कि जिस दुष्ट का पैर मेरे तपःपूत शरीर से लगा है, वह आज के दशवें दिन सूर्योदय होते ही मर जाय।"

इस शाप के सुनते ही कुष्ठी की कामवासना तो कपूर की भाँति उड़ गई। मृत्यु के आगे कामभोग क्या अच्छे लगते हैं?

उसने शीघ्रता से कहा—"देवि ! घर लौट चलो, अब तो मैं मरूँगा ही।"

सती ने बड़े धैर्य के साथ कहा—"प्राणनाथ ! आप चिन्ता न करें। ऋषि ने यही तो शाप दिया है कि दसवें दिन सूर्योदय होने पर मृत्यु हो। मैं कहती हूँ, आज से सूर्योदय ही न होगा। जब सूर्योदय ही न होगा, तब मरने का तो प्रश्न ही नहीं!"

इतना कहकर सती अपने पति को लेकर घर आयी। सच-मुच सती के वचन से सूर्य उदय ही न हुए। लोग सोते-सोते थक गये, बार-बार करवटें बदलीं, जब देखें तभी रात्रि ! सब घबड़ा गये, यज्ञ-याग रुक गये, संसार के काम बन्द हो गये। अग्निहोत्र न होने से देवताओं के भाग नहीं पहुँचे। तर्पण न होने से पितर प्यास से मरने लगे, त्रैलोक्य में हाहाकार मच गया। देवता दौड़े-दौड़े लोकपितामह ब्रह्माजी के पास गये। ब्रह्माजी ने समाधि लगाई, सभी बात जानकर बोले—"देवताओ ! यह मेरी शक्ति के बाहर की बात है। सती के वचनों को अन्यथा करने की शक्ति मुझमें नहीं है। शंकरजी में नहीं, स्वयं साक्षात् विष्णु भगवान् में भी नहीं ! एक सती से हम तीनों का पाला पड़ चुका है। सती के वचन को स्वयं सती ही चाहे तो हटा सकती है। तुम सब उसी की शरण में जाओ।"

देवताओं ने कहा—"महाराज ! अकेले तो हमारा साहस होता नहीं, आप भी हमारे साथ पधारें। आप बड़े बूढ़े हैं, बड़े बूढ़ों का सभी शील-संकोच कर जाते हैं।"

ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छी बात है। चलो भैया, हम भी चलते हैं।" यह कहकर ब्रह्माजी को आगे करके सब देवता सती के घर की ओर चले।

सती ने देखा, मेरा घर तो विमानों की चमक-दमक से चका-

चौंध हो गया। तब तो वह बड़ी आश्चर्यान्वित हुई। उसने ब्रह्मादिक देवताओं की विधिवत् अभ्यर्चना की।

देवताओं ने उसकी पूजा स्वीकार करके कहा—"देवि! तीनों-लोकों में केवल तुम्हारे ही कारण हाहाकार मचा हुआ है! तुम सूर्य को उदय होने दो।"

सती ने कहा—"सूर्य से मेरा कोई बैर तो है नहीं। सूर्योदय होते ही मेरे पति मर जायँगे। इसीलिये मैंने सूर्य को रोक दिया है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"एक तुम्हारे पति के मरने से ब्रह्माण्ड का भला होगा, देवि! परोपकार करो— क्षुद्रता छोड़ो, ऐसा हठ ठीक नहीं।"

सती ने कहा—"भगवन्! सती का सर्वस्व पति ही है। पति से बढ़कर मैं परोपकार को नहीं समझती। विधवा होना, सती के लिये बड़ी कलंक की बात है। मैं किसी प्रकार भी नहीं मान सकती।"

ब्रह्माजी ने देखा, हमारे कहने से तो यह मानेगी नहीं। कोई श्रेष्ठ सती ही आकर इसे समझावे तब यह मानेगी। इसलिये देवताओं से कहा—"तुम सब लोग भगवती अनसूया के समीप जाओ। उनके कहने से ही यह मानेगी। इन दोनों में सखी भाव है और यह उनमें बड़ी श्रद्धा रखती है।" ब्रह्माजी की आज्ञा पाकर देवता, भगवती अनसूया के आश्रम पर गये। देवताओं की प्रार्थना पर माँ अनसूया गईं। उन्होंने सती शैब्या को सब प्रकार से समझाया और बताया—"देवि! सती, कभी विधवा नहीं होती। तुम मेरे ऊपर विश्वास करो—तुम्हारे पति को मैं जिला दूँगी।" देवताओं ने भी भगवती—अनसूया की बात का अनुमोदन किया। अनसूया देवी ने देवताओं के कार्य के लिये अपने पातिव्रत के प्रभाव से दस रात्रियों की एक रात्रि बना दी।

जब रात्रि के अन्त में सूर्योदय हुआ, तब मुनि के वाक्य से उस कुष्ठी का शरीर भस्म हो गया, क्योंकि मुनि का शाप कभी अन्यथा नहीं हो सकता, किन्तु तुरन्त ही जैसे अग्नि में से शुद्ध होकर सुवर्ण निकल आता है, उसी प्रकार दिव्य शरीर धारण करके उसका पति भी निकल आया! सभी को बड़ी प्रसन्नता हुई। सती के प्रभाव को देखकर सब चकित रह गये।

इस प्रकार अनसूया देवी ने अपने पातिव्रत के प्रभाव से तीनों लोकों के संकट को दूर किया। अत्रि-पत्नी अनसूया का पातिव्रत संसार में विख्यात है, तभी तो तीनों देवता इनके यहाँ पुत्र बनकर प्रकट हुए। देवी ने अपने तपोबल से गंगाजी को भी प्रकट कर लिया था।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवती अनसूया ने क्यों गंगाजी को प्रकट किया? इस कथा को आप हमें सुनायें।"

इस पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए सूतजी ने कहा—"मुनियो! जिस प्रकार भगवती अनसूया ने गंगाजी को प्रकट किया, वह वृत्तान्त मैं आपको सुनाऊँगा। आप सब उसे श्रद्धा-पूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

करयो कोप मुनि शाप दयो जिहि कीन्ह अवज्ञा।
सूर्योदय के होत मरे मेरी अस आज्ञा॥
सती कहे रवि उदय होहिँ-गो नाहीं अबई।
तीन दिवस तक रात्रि भई घबराये सबई॥
सुर अनसूया लै गये, सती-सखी सन्तोष करि।
पति जिवाय रवि उदय करि, गईं सबनिको दुःख हरि॥

पुत्र प्राप्ति के लिये अत्रि-ऋषि की तपस्या

(१७०)

शरणं तं प्रपद्येऽहं य एव जगदीश्वरः ।
प्रजामात्मसमां मह्यं प्रयच्छत्विति चिन्तयन् ॥*
(श्री भा० ४ स्क० १ अ० २० श्लो०)

छप्पय

अत्रि करें तप उग्र, वायु भक्षण करि वनमें ।
जगत-ईश निज सरिस पुत्र दें सोचें मनमें ॥
सिर तें निकसी अग्नि तपस्या तेज दिखावे ।
सर्व भाव मुनि भये विश्वकूँ आँच जरावे ॥
सुर मुनि लखि लौ अनल की, तपतें सब विस्मित भये ।
वर देवेकूँ विष्णु, शिव, विधि तीनों मुनि ढिँग गये ॥

सहस्रों जन्म पुरुष तपस्या, योग तथा समाधि के द्वारा उस सर्वेश्वर, सर्वाधार, आनन्दकन्द, सच्चिदानन्द-प्रभु की आराधना करते हैं तब कहीं जाकर भगवद्भक्ति की प्राप्ति होती है। सो भी जब उनकी कृपा हो जाय तब। उनकी कृपा छल-कपट रहित

* महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! अत्रि मुनि तपस्या करते समय यह चिन्तन कर रहे थे, कि जो इस सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हैं वे हमें अपने समान सन्तान दें, हम उनकी शरण में आये हुए हैं।"

सरल पुरुषों पर हो ही जाती है। भगवान् का एक बार दर्शन होना भी दुर्लभ है, फिर उनसे सम्बन्ध स्थापित कर लेना—उन्हें अपना सगा सम्बन्धी, पुत्र, मित्र, पति, सखा, सुहृद बना लेना-यह तो अत्यन्त ही दुर्लभ है। जिन्होंने जन्म-जन्मान्तरों में सहस्रों सुकृतकर्म किये, तपस्या के बल से जिनका हृदय अत्यन्त ही पवित्र हो गया है, उन्हीं के यहाँ भगवान् का अवतार होता है।

पुत्र, माता पिता दोनों के संयोग से होता है! दोनों ही पवित्र हों, दोनों ही दया-दाक्षिण्य आदि गुणों से युक्त हों, दोनों के ही हृदय में भगवद्भक्ति हो, दोनों की ही विषयों से विरक्ति हो, दोनों ही का अन्तःकरण तप द्वारा पवित्र और निर्मल हो गया हो, दोनों ही सम्पूर्ण—भूतों में अपने परम-इष्ट को देखते हों, तब उनके यहाँ अजन्मा का जन्म होता है! तभी उनके यहाँ निर्गुण-ब्रह्म सगुन-वपु धारण करके क्रीड़ायें करते हैं। अत्रि और अनसूया ऐसे ही भाग्यशाली-दम्पति थे। इनके यहाँ केवल विष्णु भगवान ही नहीं, बल्कि तीनों देवताओं ने आकर जन्म लिया।"

मैत्रेय मुनि विदुरजी से पूछते हैं—"विदुरजी! आपको स्मरण होगा, कथा-प्रसंग को आप भूले न होंगे—जब भगवान् ब्रह्मा, कपिल-भगवान के दर्शनों के लिये महामुनि कर्दम के आश्रम पर आये थे, तब अपने साथ मरीचि आदि नौ ऋषियों को भी साथ लाये थे। ब्रह्माजी तो भगवान् का दर्शन करके अपने लोक को चले गये, वे सब ऋषि वहाँ रह गये। भगवान् कर्दम ने अपनी पत्नी देवहूति की सम्मति से अपनी नौ-की-नौओं कन्यायें उन मरीच्यादि नौ-ऋषियों को दे दीं। उनमें अनसूया नामक कन्या उन्होंने महा-तपस्वी भगवान् अत्रि को दी।

महामुनि अत्रि अपनी सर्वगुण सम्पन्न, सुशील, विनयवती,

सती साध्वी पत्नी को लेकर लोकपितामह-ब्रह्मा के समीप गये। पति-पत्नी ने जाकर समस्त लोकों के अधीश्वर भगवान्— वेदगर्भ के चरणारविन्दों में श्रद्धा सहित प्रणाम किया। अपने पुत्र को, पुत्र-वधू के साथ प्रणाम करते देखकर पितामह की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने हृदय से आशीर्वाद दिया—"तुम दोनों की सदा धर्म में रति हो, अनसूया संसार में सर्वश्रेष्ठ सती होवे। तुम अखिल जगत मे अनुपम-पति हो. श्रीहरि ही तुम दोनों की गति हों! श्रीकृष्ण चरणारविन्दों में तुम्हारी अहैतुकी रति हो!! संसार में सर्वत्र तुम्हारी ख्याति हो।"

ब्रह्माजी को अपने ऊपर प्रसन्न देखकर हाथ जोड़े मुनिवर अत्रि ने पूछा—"प्रभो! अब हमारे लिये क्या आज्ञा होती है?"

यह सुनकर स्नेह के साथ ब्रह्माजी ने कहा—"भैया! अब आज्ञा क्या? तुम तो स्वयं बुद्धिमान् हो, कहीं एकान्त में जाकर तपस्या करो। तपस्या से ही सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। तप ही श्रीहरि का हृदय है। तपस्या ही द्वारा उनकी उत्तम आराधना हो सकती है।"

ब्रह्माजी की ऐसी आज्ञा पाकर भगवान्-अत्रि, अपनी पत्नी भगवती-अनसूया के साथ ऋक्ष नामक श्रेष्ठ पर्वत के समीप गये। दक्षिण दिशा में वह अत्यन्त सुन्दर, परम रमणीय, सभी ऋतुओं में फलने फूलने वाला सुन्दर सरिताओं से युक्त सुहावना पर्वत था। वहाँ पर एक परम रमणीय, पवित्र जल वाली निर्विन्ध्या नामक निर्मल नदी बहती थी। पर्वत के पाषाणों से खेलती हुई, कलकल शब्द करती हुई वह सरिता सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य स्थापित किये हुए थी। उसमें कमनीय-कमल खिल रहे थे। हंस, सारस, चकवाक, जलकुक्कुट, आदि पक्षी अपने कलरव को उसके कलकल में मिलाकर पर्वत

की कन्दराओं को शब्दायमान बनाये हुए थे। नदी के दोनों तटों के पुष्पित-पादप, अपने पुष्पों के सौरभ से वन्य प्रदेश को सुवासित बनाये हुए थे। हरे-हरे पत्तों वाले असंख्यों पलास के वृक्ष, अपने लाल-लाल पुष्पों को उस वन में बिखेर रहे थे। अशोक हैं, ताल हैं, तमाल हैं, जम्बीर हैं, पनस हैं, ये सभी वृक्ष उस अरण्य को अपने अस्तित्व से श्रीसम्पन्न बनाये हुये थे।

ऐसे सुन्दर वन को देखकर मुनि का चित्त अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। उन्होंने वहीं तपस्या करने का निश्चय कर लिया। नदी के तट पर एक पैर से खड़े रहकर वे प्राणायाम का अभ्यास करने लगे। पहिले तो वन के कन्द मूल-फलों को खाकर रहने लगे, फिर उनको भी छोड़ दिया। केवल सूखे पत्तों के सहारे जीवन बिताने लगे। तदनन्तर केवल जल पीकर घोर तप करने लगे,। बाद में जल का भी परित्याग करके केवल वायु भक्षण करके ही मन को रोकने लगे। अन्त में उन्होंने वायु लेना भी छोड़ दिया। प्राणों को रोककर स्थाणु (ठूँठ) की तरह वे एक पैर के सहारे निश्चल होकर सौ वर्ष पर्यन्त खड़े रहे। अब तो मुनि विश्वात्मरूप हो चुके थे। उनका मन समाहित हो चुका था, सर्वत्र श्रीहरि को देखने के कारण उनका चित्त विश्वमय बन चुका था, इससे सबके प्राण रुकने-से लगे। मुनि के मस्तक से तपस्या की एक अग्नि-सी निकलने लगी जिसकी लपट से तीनों लोकों के प्राणी जलने-से लगे। देवता बड़े घबड़ाये, वे सोचने लगे—यह असमय में प्रलय क्यों होना चाहता है ? किन्तु कोई इसके रहस्य को न समझ सके कि यह किनका तेज संसार को तपा रहा है।"

मुनिवर अत्रि, किसी विशेष देवता के रूप का ध्यान करते हुए उसकी आराधना नहीं कर रहे थे, अपितु वे तो कह रहे थे— "जो इस चराचर विश्व के स्वामी हैं, हम उन्हीं की शरण में

आये हैं, वे हमें अपने समान पुत्र दें।" अब, चराचर जगत के स्वामी तो ब्रह्माजी भी हैं, विष्णु भी हैं और महेश्वर भी हैं। तीनों में से कौन आवे ? तीनों समझ गये कि भगवती-अनसूया के वरदान को पूरा करने के ही लिये मुनि के मन में ऐसा सङ्कल्प उत्पन्न हुआ है। अतः वे तीनों ही अपने-अपने वाहनों पर चढ़ कर मुनि के समीप आये।

ब्रह्माजी, अपने श्वेत हंस पर बैठे हुए थे। उनके चारों दिशाओं में चार मुख थे, जिन पर मणिमय-किरीट मुकुट-दम-दमा रहे थे। शिवजी तो भोलेनाथ ही ठहरे। उनका नन्दी, हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर था, जिसकी पीठ पर मणिमय-सिंहासन रखा था। सुवर्ण के काम की झूल पड़ी थी। शरीर में सर्प लपटे हुए थे जो कभी-कभी फुफकार छोड़ते थे, जटाओं में गङ्गाजी हिलोरें ले रही थीं, माथे पर चन्द्रमा चमचमा रहा था, गले में मुण्डों की मनोहर माला शोभित थी, सम्पूर्ण शरीर मे चिता की भस्म लगाये-भङ्ग चढ़ाये-जटा फैलाये-वृषभध्वज-भगवान् नील-कण्ठ अपने बैल पर बैठे वेग के साथ जा रहे थे। विष्णु भगवान् की छटा तो सबसे निराली ही थी। उनका गरुड़ तो वायु से बातें करता था। जिनके पङ्खों से सदा सामवेद की ऋचायें निकलती हैं, वे विनता-सुत पक्षिराज गरुड़ अपने पंखों पर प्रभु को आसीन किये सर्र-सर्र करते हुए उड़ रहे थे। भगवान् का पीता-म्बर गरुड़ के-वेग से- उड़ने से वायु में फहरा रहा था। नाक का बुलाक झोंटा खा रहा था। मणिमय-मुकुट माथे पर दम-दमा रहा था, काले-काले घुँघराले बाल वायु से बिखर रहे थे। विद्रुम की आभा को लज्जित करने वाले लोल-कपोल हिल रहे थे, नवीन पीपल के पत्ते के सदृश-अरुण अधर चञ्चल हो रहे थे। बनमाल की चमक-दमक से दशों-दिशायें चित्र-विचित्र-सी दिखायी देती थीं। कभी-कभी कन्धे ऊपर उठ जाते-

करों के कंकण उसी प्रकार चञ्चल हो जाते जिस तरह चित्त में कोई मोहक मूरति समा जाने पर चित्त चंचल हो जाता है। स्वाँस-प्रस्वाँस के कारण उदर की त्रिवली कभी भीतर चली जाती-कभी बाहर। दोनों जङ्घायें, गरुड़जी की पीठ से उसी प्रकार सटी थीं, जैसे यन्त्रस्थ उरू सटे होते हैं। गरुड़जी की पीठ पर इधर-उधर निकले हुए दोनों चरणों के नखों से निकलती हुई किरणें ऐसी प्रतीत होती थीं, मानों शरद के नीले बादलों में से पाँच पूर्व से और पाँच पश्चिम से चन्द्रमा एक साथ उदित होकर अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर रहे हों! सैकड़ों अप्सरायें, मुनि, गन्धर्व, सिद्ध, उरग, विद्याधर, किन्नर इत्यादि तीनों देवों का यश गान करते हुए पीछे-पीछे चल रहे थे।

इस प्रकार अपनी अलौकिक प्रभा से सम्पूर्ण आकाश को प्रकाशित करते हुए तीनों देव, अत्रिमुनि के आश्रम पर आ उपस्थित हुए। अब तक मुनि के हृदय में प्रकाश का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, आज उनका हृदय उसी प्रकार प्रकाशित हो उठा मानों सहस्रों चन्द्र-सूर्य एक साथ ही उदित हो गये हों। हृदय में उस अनुपम तेज का प्रकाश होने से मुनि को अत्यधिक आनन्द हुआ। उस तेज ने मुनि के बाहर भीतर सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश फैला दिया। उस महान प्रकाश ने सर्वत्र का अंधकार नष्ट कर दिया। आँख खोलकर मुनि ने जो देखा, तो सामने तीनों देवों को अपने-अपने वाहनों पर विराजमान पाया। एक साथ तीनों देवों के दुर्लभ दर्शनों से मुनि की दशा विचित्र हो गई। वे हक्के-बक्के-से होकर सम्भ्रम के साथ एक ही पैर से भूमि में लेट गये और दण्डवत्-प्रणाम करके अपनी आँखों से प्रेम के अश्रु बहाने लगे। बड़ी देर तक वे प्रेम में बेसुध बने-नेत्रों से-आनन्दाश्रु बहाते हुए अवनि पर पड़े रहे।

कुछ काल के पश्चात् बाह्य ज्ञान होने पर, उठकर खड़े हुए।

तीनों देवों का तेज इतना फैल रहा था, कि आँखें उस तेज को सहन करने में समर्थ न हो सकीं। उनकी आँखों के सम्मुख चकाचौंध-सा छा गया। अतः वे बाह्य नेत्र बन्द करके हृदय में उनके स्वरूप का ध्यान करते हुए बड़े स्नेह के साथ गद्गद कंठ से तीनों की स्तुति करने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मुनि, भगवान के तेज को सहन क्यों नहीं कर सके ? उनसे आँख क्यों नहीं मिला सके ? बहुत-से भक्त भगवान् से घुल-घुलकर बातें करते हैं उनके साथ क्रीड़ायें भी करते हैं।"

सूतजी बोले—"महाभाग ! कुछ भक्त, माधुर्य के उपासक होते हैं और कुछ ऐश्वर्य के। माधुर्य में तो भगवान् के साथ मधुरता का सम्बन्ध होता है, ये हमारे सखा हैं, बन्धु हैं, पति हैं, पुत्र हैं आदि-आदि। ऐश्वर्य में तो प्रभाव की ही प्रधानता होती है। पृथ्वी के साधारण राजा के प्रभाव को लोग सहन नहीं कर सकते-फिर ये तो तीनों ब्रह्माण्ड के स्वामी थे। उन्होंने जगत् के स्वामी भाव से उपासना की। उस रूप से तीनों देवों ने दर्शन दिये। इतना होने पर भी उनके हृदय में तो माधुर्य ही भरा हुआ था। इसलिये देवताओं के सम्मुख रहने पर भी उनके प्रभाव से भयभीय नहीं हुए। हाथ जोड़कर वे उनकी मधुर वाणी में विनय करने लगे।"

छप्पय

देखे तीनों देव तेज -तें दिशा प्रकासें।
हंस गरुड़ वृष चढ़े पूर्ण शशि सम शुभ भासें॥
यश गावें गन्धर्व अप्सरा नाचें आगे।
करि दर्शन मन मोद भयो मुनि के दुख भागे॥
अविरल जल नयननि बहै, परे लकुटि सम अवनि पै।
है अधीन ममता भरी, डारी दृष्टि सबनि पै॥

तीनों देवों का पुत्र रूप से प्रकट होने का वरदान

[१७१]

अथास्मदशभूतास्ते आत्मजा लोकविश्रुताः ।
भवितारोऽङ्ग भद्रं ते विस्रप्स्यन्ति च ते यशः ॥
एवं कामवरं दत्त्वा प्रतिजग्मुः सुरेश्वराः ।
सभाजितास्तयोः सम्यग्दम्पत्योर्मिषतोस्ततः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० १ अ० ३१, ३२ श्लोक)

छप्पय

चकाचौंध ह्वै गईं चक्षु चित चरण लगायो ।
हाथ जोरि सिर नाइ विष्णुविधिहर गुन गायो ॥
या जग के जो ईश पुत्र हित एक पुकारे ।
किन्तु कृपा के सिन्धु ! दया करि तीनि पधारे ॥
सुनि मुनि वच बोले सभी, तीनों ही जगदीश हम ।
इच्छा वर माँगो अनघ, अब तुमको सबई सुगम ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! तीनों देव अत्रि मुनि पर प्रसन्न होकर कहने लगे—"हे प्रिय ! तुम्हारा कल्याण हो । हम तीनों के ही अंश से आपके यहाँ तीन विश्वविख्यात पुत्र उत्पन्न होंगे । वे संसार में तुम्हारा सुयश फैलावेंगे । इस प्रकार मुनि को इच्छित वर देकर अत्रि और अनसूया से पूजित हुए वे देवगण उनके देखते-ही-देखते आँखों से ओझल होकर अपने-अपने लोकों को चले गये ।"

हम, जितने फल की आकांक्षा से कोई कार्य करते हैं उससे अधिक फल हमें सहसा प्राप्त हो जाता है तो हमारे हर्ष का ठिकाना नहीं रहता। जहाँ हम कुछ की आशा से पृथ्वी खोदते हैं, वहाँ यदि अपार सम्पत्ति मिल जाती है, तो हर्ष, विस्मय, उल्लास, संभ्रम सभी एक साथ होते हैं।

महामुनि-अत्रि, भगवान् की आराधना पुत्र की प्राप्ति के निमित्त कर रहे थे। उनका संकल्प था—'जो इस जगत् के स्वामी हैं वे कृपा करके हमें अपने ही सदृश पुत्र दें।' इस जगत् के स्वामी तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों—ही हैं! यदि किसी का नाम-रूप लेकर उपासना करते, तब वे ही अकेले देव वरदान देने को प्राप्त होते। यों गोल-माल करने से मुनि लाभ में रहे। तीनों ही देवता उन्हें वरदान देने को उपस्थित हुए। ये त्रिदेव, पहिले ही भगवती अनसूया को वर दे चुके थे! सती के पुत्र तो अत्रि मुनि के ही वीर्य से होंगे—अतः इन देवताओं ने सोचा—"पुत्र तो होना ही पड़ेगा, चलो, अत्रिजी का भी आदर कर दो—उनको भी बड़ाई ले लो—बहती गङ्गाजी में हाथ धो लो।" इसीलिये तीनों ने दर्शन दिये।

अत्रि-मुनि ने उनके चरणों की वन्दना करके विनीत भाव से प्रार्थना करते हुए कहा—"प्रभो! मैं आपके वस्त्र, आयुध, वाहन और चिह्नों से आपको श्रीब्रह्मा, श्रीविष्णु और श्रीशंकर समझता हूँ। आप ही तीनों अपनी माया के द्वारा पृथक्-पृथक् गुणों का आश्रय लेकर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के लिये तीन रूप धारण कर लेते हैं। आप तीनों ने जो मुझे दर्शन दिये, अतः मैं आप तीनों के चरणों में श्रद्धा सहित वन्दन करता हूँ।"

तीनों देवों ने कहा—"मुनिवर, हम तुम्हारी तपस्या से

सन्तुष्ट होकर तुम्हें वरदान देने आये हैं ! तुम इच्छानुरूप-वरदान माँग लो।"

अत्रि ने कहा—"परम पूजनीय देवगण ! मैंने तो सन्तान प्राप्ति के लिये केवल एक ही जगत के ईश्वर का चिन्तन किया था, आप तीनों ने मिलकर किस प्रकार कृपा की ?"

भगवान् बोले—"तपोधन ! यदि आप किसी एक देव का नाम लेते–उनके निर्दिष्ट-रूप का चिन्तन करते–तब वे ही आपके सम्मुख प्रकट होते। आपने तो गोल-माल कर दिया, अँधेरे में अटकल-पच्चू से तीर छोड़ दिया। कह दिया, जो जगत् के स्वामी हो—वे हमें अपने सदृश सुत दें, जगत् के स्वामी तो हम तीनों ही हैं।"

अत्रि मुनि ने कहा—"अच्छी बात है महाराज ! बड़ी कृपा की, 'अधिकस्य अधिकं फलम्' एक पुत्र के स्थान में तीन-तीन हो जायँ तो और भी उत्तम।"

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! कभी-कभी तो भगवान् ऐसे भोले बन जाते हैं कि कुछ कहते नहीं बनता। अजामिल ने सरासर पुत्र को पुकारा था ! भगवान् ने उसे अपना ही नाम मान लिया। यही बात शिवजी की है। एक चोर था, शिवजी का घण्टा चुराने उनकी पिंड़ी पर चढ़ा। बस, भोलेबाबा उस पर प्रसन्न हो गये—"कोई मेरे ऊपर पुष्प चढ़ाता है, कोई बेलपत्र चढ़ाता है। देखो यह मेरा कितना भक्त है—इसने अपने आपको ही चढ़ा दिया।" बताइये, इस भोलेपन का भी कुछ ठिकाना है ? और जब चालाकी करनी होती है, तो हिरण्यकशिपु को कितने कौशल से मारा ! भस्मासुर को कैसी उलटी पट्टी पढ़ाकर भस्म कर दिया, द्रोणाचार्य को कैसी इधर-उधर की बातें भिड़ाकर मरवा दिया। तभी तो कहते हैं—"दयानिधि, तेरी गति लखि न परे" जब अत्रि-मुनि ने इस प्रकार विनय की तो तीनों बोले—

"मुनिवर! तुम सत्य-संकल्प हो, हमारे भक्त हो, तुम्हारी पत्नी पतिव्रता है, तुम्हारा संकल्प कभी अन्यथा नहीं हो सकता! जैसा तुमने सोचा है वैसा ही होगा। हम तीनों ही अपने-अपने अंशों से तुम्हारे यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न होकर तीनों लोकों में तुम्हारा यश फैलावेंगे और जीवों का कल्याण भी करेंगे।"

मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! उस समय भगवान् ने कहा—"अच्छा 'दत्त' अर्थात् हमने तुम्हें पुत्र दिया" इसीलिये भगवान् श्रीहरि के अंश से जो हुए उनका नाम तो 'दत्त' हुआ, अत्रि के पुत्र होने से वे 'आत्रेय' भी कहाये। शिवजी को उस समय कुछ कोप आ गया क्योंकि मुनि का वस्त्र तपस्या करते-करते मलिन हो रहा था, इसीलिये उनके अंश से जो हुये वे बड़े ही क्रोधी महामुनि—दुर्वासाजी हुये, जो सबके ऊपर कोप ही करते हैं—शाप तो उनकी जिह्वा पर ही रखा रहता है! ब्रह्माजी का ध्यान शिवजी के मस्तक पर उदित हुये चन्द्रमा की ओर था। उनका मन वन की शोभा देखकर अत्यन्त ही प्रफुल्लित हो रहा था। इसीलिये उनके अंश से चन्द्रमा उत्पन्न हुए जो अत्यन्त ही सुन्दर, बड़े रसिक और तीनों-लोकों को सुख देने वाले हुये। तीनों-देवों ने जब वरदान दे दिया तो, मुनि ने पत्नी सहित पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय और कन्दमूल फलादि के द्वारा बड़ी—श्रद्धा सहित तीनों देवों की पूजा की। उस तपःपूत दम्पत्ति की भक्ति सहित की हुई पूजा को स्वीकार करके तीनों देव वहीं अन्तर्धान हो गये। महामुनि पत्नी के सहित खड़े-के-खड़े ही रह गये। तीनों देवों के चले जाने पर दोनों ने भक्तिभाव से उस दिशा को प्रणाम किया जिधर तीनों-देव अन्तर्धान हुए थे, फिर वे लौटकर अपने आश्रम में चले आये। कालान्तर में उनके तीन पुत्र हुये जिनका नाम क्रमशः—दत्तात्रेय, दुर्वासा और चन्द्रमा रखा गया।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमने तो सुना था चन्द्रमा समुन्द्रमन्थन के समय समुद्र से निकला था! सभी लोग चन्द्रमा को समुद्र का ही सुत बताते हैं। आज तक भी यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि, जब पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा अपनी सोलहों कलाओं से युक्त होता है तो उसकी वृद्धि को देखकर उसके पिता समुद्र के हृदय में हिलोरें उठने लगती हैं। उस दिन समुद्र भी बढ़ता है, उसमें तरंगे उठती हैं! लक्ष्मीजी भी समुद्र से ही उत्पन्न हुई हैं, अतः वे चन्द्रमा की बहिन कही जाती हैं। अब आप कहते हैं कि, चन्द्रमा अत्रि के पुत्र हैं—अनसूया के गर्भ से उत्पन्न हुए यह कैसे हुआ? इसका मर्म हमें यथावत् समझाइये।"

शौनकजी के ऐसे प्रश्न को सुनकर हसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! आप भी ऐसे प्रश्न कर देते हैं कि मुझे भ्रम-सा हो जाता है। महाभाग! चन्द्रमा तो नित्य ही हैं, सृष्टि-प्रकरण में बताया गया है—चन्द्रमा, विराट-भगवान् के मन से उत्पन्न हुए। मैं पहले ही बता चुका हूँ कि बहुत से जीव नित्य होते हैं, वे समय-समय पर स्वेच्छा से अवतार धारण करके संसार का कार्य करते हैं। जैसे—सप्तर्षि नित्य हैं, फिर भी उनमें से विश्वामित्र मुनि ने राजर्षि-गाधि के यहाँ जन्म लिया। एक रूप से वे सप्तर्षि-मंडल में रहे और दूसरे रूप से यहाँ पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए। यहाँ अपना कार्य करके फिर अपने लोक में यथावत् रहने लगे। समुद्र-मन्थन के पूर्व भी चन्द्रमा थे कहीं चले तो गये ही नहीं थे, श्रीहीन होने से फीके पड़ गये थे! समुन्द्र-मन्थन के समय श्रीसम्पन्न होकर, अमृतमय बनकर निकले और अपने अमृत से वृक्ष, लता, औषधियों तथा ब्राह्मणों को सींचने लगे। कालान्तर में वे ही अत्रि के यहाँ श्रीब्रह्माजी के अंग से उत्पन्न हुए। चन्द्रमा में पुत्र बनने से कोई विकार नहीं हुआ, उनके कार्य में

भी कोई रुकावट नहीं हुई। जितने जीव हैं वे चाहे नित्य हों, बद्ध हों, मुमुक्षु हों अथवा मुक्त हों–सब भगवान् की आज्ञा रूपी-रस्सी में बँधे हैं। उनकी इच्छा के बिना कोई कुछ कर ही नहीं सकता।"

शौनकजी ने कहा—"तब तो एक प्रकार से सभी 'बद्ध' ही रहे। फिर नित्य, मुक्त तथा बद्ध में भेद ही क्या रहा ?"

इस पर सूतजी बोले "मुनिवर! वास्तव में तो सभी बद्ध ही हैं, उपचार से ये सब भेद माने जाते हैं। इसकी अपेक्षा यह नित्य हैं, इसकी अपेक्षा यह बद्ध है—यह भेद अपेक्षाकृत है! नहीं तो सभी के हृदय में वे ही श्यामसुन्दर बैठकर सबसे अपनी इच्छानुसार कार्य करा रहे हैं और जीव विवश होकर उन कार्यों को करता है।"

शौनकजी बोले—"हाँ, सूतजी! आप सत्य कह रहे हैं। जीव का अहंकार व्यर्थ है—होगा वही जो राम ने रच रखा होगा! जीव व्यर्थ ही अपनी धुना-बुनी करता रहता है। आप, हम सबको इन तीनों के चरित्रों की मुख्य-मुख्य घटनायें सुनावें।"

इस पर सूतजी बोले—"महाभाग! भगवान् दुर्वासा और चन्द्रमा का चरित्र तो आगे यथास्थान कहूँगा। इस समय तो मैं भगवान्-दत्तात्रेय के जीवन के कुछ प्रसंग सुनाता हूँ, उन्हें आप सब समाहित-चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

बोले मुनिवर अत्रि, नाथ! माँगत सकुचाऊँ।
तुम सम सुन्दर सुघड़ सलौने सुत हौं पाऊँ॥
हँसि के बोले देव—"हमारे सम हम तीन्हीं।
जन्म रहित हम तऊ उग्र तप तुमने कीन्हों॥
आओ, हमईं होहिंगे, तनय तुम्हारे तपोधन।
सुनि मुनि अति हरषित भये, गहे चरन हैं मुदित मन॥

—०—

भगवान् दत्तात्रेय का अवतार

[१७२]

सोमोऽभूद्ब्रह्मणोंऽशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित् ।
दुर्वासाः शङ्करस्यांशो निबोधाङ्गिरसः प्रजाः ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० १ अ० ३३ श्लोक)

छप्पय

दै दुरलभ वरदान भये अन्तहित देवा ।
आये आश्रम अत्रि करैं श्रीहरि की सेवा ॥
काल पाहि विधि चन्द्र नामतैं प्रकटे आई ।
शिव दुर्वासा भये, शाप की छटा दिखाई ॥
योगेश्वर श्रीहरि भये, दत्तात्रेय महान-मुनि ।
तरैं जगत् के जीव सब, जिनको सुन्दर सुयश सुनि ॥

भगवान् के अनन्त अवतार हैं, उनकी गणना नहीं। अनेक योनियों में अवतार धारण करके भगवान् अनन्त लीलायें करते हैं। भगवान् की सभी लीलायें अनुकरणीय नहीं होतीं! कुछ लीलायें, मात्र लीला के ही लिये होती हैं, कुछ लीलायें उपदेशप्रद भी होती हैं। जो उपदेशप्रद हों, सदाचारपूर्ण हों, लोक—

---

* महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! भगवान् अत्रि के यहाँ ब्रह्माजी के अंश से तो चन्द्रमा हुए, विष्णु भगवान् के अंश से योगेश्वर-दत्त भगवान् हुए और महादेवजी के अंश से दुर्वासा मुनि हुए। यह तो अत्रि मुनि का वंश हुआ। अब अंगिरा मुनि के वंश को सुनिये।"

वेद के विरुद्ध न हों, उनका आचरण अनुकरण करना चाहिये और जो केवल लीला के ही लिये हों, उनका सिर्फ श्रद्धा से श्रवण करना चाहिये। उनके श्रवण मात्र से ही पुण्य है। ईश्वर के वचन ही सत्य हैं, आचरण तो कहीं-कहीं अनुकरणीय माने जाते हैं। शिवजी ने जहर पी लिया, भगवान् कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत उठा लिया, रासक्रीड़ा की इन सब लीलाओं का कभी अनुकरण न करें, नहीं तो पतन हो जायगा। कभी-कभी सामर्थ्यवान् अवतारी पुरुष लोक वेद विरुद्ध भी आचरण करते देखे गये, उसे देख कर भ्रम में नहीं पड़ जाना चाहिये कि, जब वे ऐसा करते हैं तो हम भी वैसा ही करें। उस समय यही समझना चाहिये कि ये समर्थ हैं, इन्होंने अपनी माया से हमारी परीक्षा लेने के निमित्त यह खेल रचा है। उस समय न तो उनकी निन्दा ही करनी चाहिये न भूलकर उनके इस कर्म का अनुकरण ही करना चाहिये। यदि मोहवश उनके विरुद्धाचरण को हम स्वयं भी करने लगें—तो पतित हो जायँगे।

इस विषय में महापुरुषों ने अपने शिष्यों को अनेक प्रकार से शिक्षायें दी हैं। एक महापुरुष भिक्षा को जा रहे थे, साथ में उनके शिष्य भी थे। शिष्यों के परीक्षार्थ उन्होंने एक से मांस माँगा। उसने दे दिया और महापुरुष खा गये। शिष्यों ने सोचा—"अब गुरूजी ने खा लिया, तो हम क्यों न खावें।" उन्होंने भी लिया और जिह्वा-लोलुपता वश खा गये। आगे काँच की भट्टी थी, काँच पिघल रहा था। महापुरुष ने काँच माँगा, भट्टी वाले ने कमण्डलु भर दिया। 'आप' उसे भी पी गये। अब शिष्य घबड़ाये। महात्मा ने कहा—"इसे भी पियो! तुम लोग हमारा अनुकरण ही करते हो तो सब में करो।"

ऋषियों तक ने उपनिषदों में कहा है—"जो हमारे सुचरित हों उन्हीं का अनुकरण करना चाहिये, निषिद्ध कर्मों का नहीं।"

इसी प्रकार-एक और महात्मा चले जा रहे थे, रास्ते में उन्हें मछलियाँ मिलीं। सब-गुरु शिष्य भूखे थे ही, गुरुजी ने मछली लेकर खा लीं। शिष्यों ने भी ऐसा ही किया। आगे चलकर गुरुजी ने उन्हें बहुत डाँटा और कहा—"तुमने ऐसा क्यों किया ?" उन्होंने कहा—"महाराजजी ! जो आपने किया-वही तो हमने किया।"

महात्माजी ने कहा—"अच्छी बात है, हम वमन कर देते हैं।" उनके वमन करते ही सब मछलियाँ जीवित निकल आईं। हरी-हरी तुलसी उनके साथ निकली। शिष्यों ने वमन किया तो भयंकर दुर्गन्धि ! तब शिष्यों ने गुरु के पैर पकड़े कि, अब हम बिना पूछे आपके आचरणों का अनुकरण कभी न किया करेंगे। जिस प्रकार देखने में विरुद्ध आचरणों को कभी कोई-कोई महापुरुष करते हैं, उसी प्रकार के आचरण भगवान्-दत्तात्रेय के हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महामुनि अत्रि और भगवती अनसूया को वर देने के अनन्तर तीनों देवों ने उनके घर अवतार लिया। ब्रह्माजी के अंश से चन्द्रमा हुए जो लोकपाल कहलाये। उनके समान सुन्दर, संसार में कोई नहीं। उन्होंने राजसूय, विश्वजित आदि बड़े-बड़े यज्ञ करके सभी को अपने वश में किया। वे प्रजापति हुए और चन्द्रवंश के संस्थापक कहलाये। शिवजी के अंश से परम क्रोधी-दुर्वासा हुए, उन्होंने विवाह नहीं किया। पैदा होते ही इन्होंने उन्मत्त व्रत धारण कर लिया। पागलों की भाँति जटा बिखेरे इधर-से-उधर घूमते रहते हैं। किसी ने तनिक भी अपराध किया, उसी समय ये शाप रूपी अस्त्र उसके ऊपर छोड़ देते हैं। किसी-किसी को वरदान भी देते हैं किन्तु बहुत कम। इनकी तो शाप देने में ही ख्याति है। आज भी कोई क्रोधी साधु आता है तो लोग कह उठते

हैं—"ये तो साक्षात् दुर्वासाजी ही आ गये।" दुर्वासाजी के शाप की अनेकों कथायें हैं जो प्रसंगानुसार आगे वर्णित होंगी। ये शाप द्वारा ही जीवों पर कृपा करते हैं। ईश्वर का श्राप भी वरदान के तुल्य होता है। उनका क्रोध भी कल्याण कारक ही होता है, क्योंकि शिव के कार्य कभी 'अशिव' हो ही नहीं सकते।

साक्षात् श्रीविष्णु के अंश से भगवान्-दत्तात्रेय का जन्म हुआ। देवताओं ने पुष्प-वृष्टि करके तथा दुन्दुभी बजाकर भगवान् के प्रति सम्मान प्रदर्शन किया। दत्त भगवान् परम सुन्दर थे। उनके रूप लावण्य को देखते ही दर्शक मुग्ध होकर उनके पीछे लग जाते। उन्होंने जन्म से ही अवधूत वेष धारण कर लिया, वे न गृहस्थी हुए और न उन्होंने कोई सांसारिक-प्रवृत्ति मार्ग का कार्य ही किया। वे निस्पृह होकर इधर-से उधर घूमते रहते। सैकड़ों, हजारों स्त्री-पुरुष-बालक उनके पीछे लग जाते—उनके स्वरूप में ऐसी मोहकता थी। एक बार किसी सुन्दर स्वच्छ सलिल वाले सरोवर के समीप वे समाधि में मग्न हो गये। बहुत से ऋषिकुमार उनके समीप आकर रहने लगे। उन्होंने ऋषिकुमारों को अनेक प्रकार से समझाया कि हम अवधूत हैं, हमारे पास रहने की आवश्यकता नहीं, हमारे आचरण लोक बाह्य हैं, तुम लोग किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाओ। बहुत समझाने पर भी जब वे ऋषिकुमार उन्हें छोड़कर नहीं गये—तब तो भगवान्-दत्त ने अपनी माया रची।

वे उन ऋषिकुमारों को अपने समीप रखना नहीं चाहते थे। इसलिये सबके देखते-ही-देखते एक अत्यन्त सुन्दरी स्त्री उसी सरोवर के सलिल से निकली। सभी को बड़ा विस्मय हुआ। सभी आँखें फाड़-फाड़कर उस देवी की ओर देखने लगे, परन्तु

देवी ने किसी की ओर नहीं देखा, वह सीधी भगवान् दत्त की बगल में जा बैठी। वह साक्षात् लक्ष्मीजी की ही अंश थीं। भगवान् ने अपनी योग माया से उनका निर्माण किया कि, ये ऋषिकुमार हमें गृहस्थी समझकर चले जायँ। किन्तु फिर भी वे सब नहीं गये, उन्होंने समझा यह तो भगवान् की मोहिनी माया है। तब तो दत्त भगवान् अखाद्य वस्तु खाने लगे, अपेय वस्तु का पान करने लगे। इससे उन कुमारों का मन फिर गया और सोचने लगे—"ये तो सदाचार से हीन हैं, इनके समीप रहकर क्या करेंगे ?" यही सोचकर सब उन्हें छोड़कर चले गये। भगवान् तो यह चाहते ही थे, उनके चले जाने पर वे आनन्द पूर्वक तपस्या करने लगे।

भगवान दत्तात्रेय को प्रसन्न करना अत्यन्त ही कठिन है, क्योंकि इनके आचरण लोक-बाह्य हैं। जो इनके प्रभाव को नहीं जानते, वे पहिले-पहिल इनकी रहनी-सहनी देखकर सन्देह में पड़ जाते हैं। ये अपने भक्तों की बहुत कड़ी परीक्षा लेते हैं। इनकी परीक्षा में बहुत कम ही उत्तीर्ण होते हैं, किन्तु जो उत्तीर्ण हुए हैं, वे इस लोक में सर्वऐश्वर्य–सम्पन्न–समृद्धिशाली होकर अन्त में मोक्ष के भागी बने हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भगवान् इन अल्पज्ञ-जीवों को ऐसी कठिन परीक्षा क्यों लेते हैं, क्यों ऐसे लोक विरुद्ध आचरण करते हैं ?"

सूतजी ने इस पर कहा—"महाभाग ! भगवान् को तो सभी शिक्षाएँ देनी पड़ती हैं। एक ऐसी भी स्थिति होती है जहाँ लोक-वेद कुछ भी नहीं रहता। जहाँ विधि, निषेध दोनों का ही अन्त हो जाता है। इसी अवस्था का नाम अवधूतावस्था है। इसके आचरण करने वाले बिरले होते हैं। यह अवस्था साधनों से प्राप्त नहीं होती। भगवत्-कृपा से ही-अनेक जन्मों के सुकृतों से-

ऐसी अवस्था स्वतः आ जाती है। भगवान् दत्त ने उसी अवधूतावस्था का दर्शन दिया है। बहुत-से विरक्तों को अपने वरदान से उस स्थिति पर पहुँचाया है। बहुत-से राजर्षियों को ज्ञान देकर उनके इस लोक के सब मनोरथ पूर्ण किये हैं, वे इस लोक में प्रसिद्ध कीर्तिशाली राजा हुए और अन्त में उन्होंने मोक्ष पदवी को प्राप्त किया है। ये भगवान्, भुक्ति–मुक्ति दोनों के ही दाता हैं।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! दत्त-भगवान् ने जिन्हें अपने वरदान से सिद्ध बना दिया, ऐसे दो चार प्रसंग हमें सुनाइये। दत्त भगवान् के चरित्र सुनने को हम सबकी बड़ी उत्कण्ठा हो रही है।"

इस पर सूतजी ने कहा—"मुनियो! दत्त-भगवान् ने असंख्यों जीवों का उद्धार किया है। उसमें से दो चार मुख्य-मुख्य का मैं संक्षेप में उल्लेख करता हूँ, आप समाहित चित्त से भगवान् के चरित्र को सुनें।"

छप्पय

दत्तदेव वपु परम सुघड़ सुन्दर सुठि सोहत।
जनु सौन्दर्य शरीर धरे घूमे जग मोहत॥
एक बार जो लखै संग सो फिर नहिं छोरत।
मातु पिता घर कुटुम सबनि तें मुख कूँ मोरत॥
सँग—अखाद्य पदारथनि, माया रचि कौतुक करहिं।
जानि अघोरी शुचि रहित, ऋषिकुमार सँग ते भगहिं॥

इससे आगे की कथा नवें खण्ड में पढ़िये:—

हमारी नयी पुस्तक—

भागवत चरित-संगीत सुधा

स्वरकार

बंशीधर शर्मा, 'भागवत चरित व्यास'

भारतवर्ष के अनेकों स्थान से लोग पूज्यपाद श्री ब्रह्मचारीजी महाराज के दर्शनों के लिये आते रहते हैं। दर्शन के साथ इच्छा होती है, कि श्री महाराज जी के मुखारविन्द से अमृतमयी कथा का श्रवण करें। आश्रम पर नित्य नियम से कथा, कीर्तन और पाठ होते रहते हैं। जो भी एक बार भागवत चरित को सुन लेता है, उसकी इच्छा होती है इसे बार-बार सुनें, किन्तु सुनें कैसे जब तक ताल स्वर बाजा तबला पर गाने वाले न हों रस नहीं आता। जिन लोगों ने धुनि नहीं सुनी उनके लिये यह नवीन राग है। अतः बहुत दिनों से लोगों के समाचार आते रहे कि भागवत चरित को शास्त्रीय संगीत में लिपिबद्ध कराके छपवा दीजिये। उसी आधार पर यह 'भागवत चरित-संगीत सुधा' तैयार की गई है। आशा है भागवत चरित पाठक इस पुस्तक से लाभ उठावेंगे। मूल्य १) रुपया।

—व्यवस्थापक